अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति

(सन् 1296 ई0 से 1316 ई0 तक)

डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद के
मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विषयान्तर्गत
पी-एच0डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2011

शोध निर्देशक

डॉ0 राम सुन्दर यादव
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
आर.आर.पी.जी.कालेज अमेठी
छत्रपति शाहूजी महाराज नगर (उ0प्र0)

शोधार्थिनी

अजीत कुमारी मिश्रा

प्रमाण-पत्र

डॉ0 राम सुन्दर यादव

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग
आर0 आर0 पी0 जी0 कालेज अमेठी
छत्रपति शाहूजी महाराज नगर (उ0प्र0)

निवास

सरवनपुर, केशव नगर, अमेठी
छत्रपति शाहूजी महाराज नगर
(उ0प्र0)
मो0 9721780847

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि यह शोध प्रबन्ध जिसका शीर्षक अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति (सन् 1296 ई0 से 1316 ई0 तक)'' है, मेरे निर्देशन में श्रीमती अजीत कुमारी मिश्रा द्वारा तैयार किया गया है। यह शोध प्रबन्ध इनकी मौलिक कृति है। इन्होंने डॉ0 राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद की नियमावली के अन्तर्गत एवं निश्चित समय सीमा में यह कार्य पूर्ण किया है।

अतएव मैं इस शोध प्रबन्ध को पी–एच0डी0 उपाधि हेतु मूल्याँकनार्थ सहर्ष अग्रसारित करता हूँ। इसके साथ ही साथ मैं शोधार्थिनी श्रीमती अजीत कुमारी मिश्रा के मंगलमय एवं उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

वसन्त पंचमी, 2011 ई0

डॉ0 राम सुन्दर यादव

आभार

आभार

भारतीय शौर्य शिरोमणि राजपूतों ने लगभग पाँच शताब्दियों तक मुस्लिम आक्रमणकारियों का वीरता पूर्वक सामना किया। किन्तु अन्ततः मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अपनी ताकत के बल पर उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को पदाक्रान्त कर भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डालने में सफलता प्राप्त कर ली और मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में 1192 ई0 में हिन्दुआ सूर्य पृथ्वीराज चौहान तृतीय को परास्त कर दिल्ली सल्तनत की स्थापना की। 1206 ई में मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में इसका उत्तराधिकारी बना। उसे गुलाम वंश का संस्थापक माना जाता है। गुलाम वंश ने दिल्ली सल्तनत पर 1206 ई0 से 1290 ई0 तक शासन किया। कुतुबुद्दीन ऐबक के अतिरिक्त इल्तुतमिश, रजिया, नासिरुद्दीन महमूद और बलबन इस वंश के शासक थे। बलबन दिल्ली का प्रथम सुल्तान था जिसने निश्चित राजत्व सिद्धान्तों की योजना दी और उनको व्यवहार स्वरूप प्रदान कर सुल्तान पद की गरिमा एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि की किन्तु उसके मरने के बाद उसके किये कराये पर पानी फिर गया और 1290 ई0 में जलालुद्दीन फिरोज खिलजी ने दास वंश का अंत कर खिलजी वंश की नींव डाली। वह 70 वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुआ था। अतः दिल्ली सल्तनत को वह उल्लेखनीय गरिमा न प्रदान कर सका। 1296 ई0 में उसके भतीजे एवं दामाद अलाउद्दीन खिजली ने उसका वध कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में वास्तविक

रूप से साम्राज्यवाद अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। उसने 1296 ई0 से 1316 ई0 तक शासन किया। उसने दिल्ली सल्तनत के विस्तार एवं अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए राजपूत राजाओं को परास्त करने का निश्चय किया। अपने निश्चय को उसने व्यवहार स्वरूप प्रदान किया और बराबर तब तक उनसे संघर्ष करता रहा जब तक किसी भी राजपूत राजा ने उससे लड़ने की हिम्मत दिखाई। उसकी सेनाओं नें न केवल उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को परास्त किया, बल्कि दक्षिण भारत के राजपूत राजाओं को भी पदाक्रान्त कर अपनी अधीनता स्वीकार करने और नियमित कर देने को विवश किया। वास्तव में अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति प्रमुख रूप में दो भागों में बांटी जा सकती है। प्रथम उत्तर भारत के प्रति अपनायी गयी नीति और द्वितीय दक्षिण भारत के राजपूतों के प्रति अपनायी गयी नीति। इन दोनो नीतियों में मूलभूत अन्तर था। उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को परास्त कर अलाउद्दीन खिलजी उनके राज्यों को अपने राज्य में मिलाकर दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। किन्तु दक्षिण भारत के राजपूतों के प्रति उसने विलयन विरोधी जैसी दूरदर्शीपूर्ण नीति अपनायी। उसने उन्हें परास्त कर मनचाहा धन प्राप्त किया और उनको अपने अधीनस्थ बनाये रखा। जबतक दिल्ली सल्तनत में सुल्तानों ने इस नीति का पालन किया तब तक दिल्ली सल्तनत का भविष्य उज्ज्वल रहा किन्तु जब इस नीति से छेड़–छाड़ प्रारम्भ की गयी तो दिल्ली सल्तनत के संकट भी बढ़ने लगे। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति के विभिन्न आयामों का विवेचन एवं मूल्यांकन किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में जिन गुरुजनों, महापुरुषों के लेखों, विचारों एवं सुझावों ने मुझे सम्बल दिया है उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करना मेरा पावन कर्तव्य है। इस क्रम में सर्व प्रथम मैं अपने शोध निर्देशक परम श्रद्धेय डॉ0 राम सुन्दर यादव, एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, आर0आर0पी0जी0 कालेज अमेठी छत्रपति शाहूजी महाराज नगर (उ0प्र0) का हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ। जिनकी अहेतुकी कृपा एवं शोध निर्देशन से मैं यह अपना शोध कार्य पूर्ण कर सकी। आपने अपने व्यस्ततम समय में से समय निकालकर मुझे जो अनुपम सुझाव एवं कुशल मार्गदर्शन प्रदान किया उसके लिए मैं आजीवन आपकी आभारी रहूँगी। पुनश्च आपका मैं बार–बार वन्दन और अभिनन्दन करती हूँ।

तदन्तर मैं अपनी परम पूजनीय माता श्रीमती सुशीला देवी मिश्रा एवं पूज्य पिता श्री रामराज मिश्र प्रबन्धक श्री रणवीर इण्टर कालेज अमेठी छत्रपति शाहूजी महाराज नगर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ जिनके आशीर्वाद, प्रेरणा एवं विशेष सहयोग तथा प्रोत्साहन से मैंने इस शोध कार्य को सम्पन्न किया। इस अवसर पर विशेष रूप से मैं अपने पूज्य पिता श्री रामराज मिश्र का आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे इस शोध कार्य में अमूल्य सहयोग प्रदान किया। उनके इस सहयोग के बिना मेरा यह कार्य सम्भव नही हो पाता। एतद्दर्थ मैं उन्हें बार–बार प्रणाम करती हूँ।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता का श्रेय अपने पति श्री सतीश पाण्डेय को भी देती हूँ जिन्होंने मुझे समय–समय पर इस कार्य को पूर्ण करने की प्रेरणा प्रदान की। जब मैं हताश एवं श्रान्त होती थी तो आप अपने स्नेहिल वचनों से मुझे स्फूर्ति प्रदान करते थे। इसके आभाव में मेरा यह कार्य असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता। अपनी सास पूजनीय श्रीमती श्यामा देवी पाण्डेय ससुर पूजनीय श्री श्याम सुन्दर पाण्डेय का आशिर्वाद हमेशा मेरे साथ रहता है। इसके लिए मैं बार–बार आपके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। इसके अतिरिक्त अमेठी नरेश माननीय डॉ0 संजय सिंह, सांसद सुलतानपुर एवं श्रीमती (डॉ0) रानी अमीता सिंह, जी का स्नेहाशीष मुझे सदैव प्राप्त हुआ। जब भी कभी मैं हताशा या नैराश्य के क्षणों से घिरती थी उनके आशीर्वाद मुझे अटूट सम्बल प्रदान करते थे। उन्हें मेरा शत्शत् प्रणाम।

प्रस्तुत शोध कार्य के सम्पादन में मुझे मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग के जिन मनीषियों से मार्गदर्शन, उत्साहवर्धन एवं प्रेरणा प्राप्त हुई उनमें प्रो0 के0के0 शर्मा अवकाश प्राप्त अध्यक्ष मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय मेरठ, प्रो0 आभा पाल, अध्यक्ष इतिहास विभाग रवि शंकर विश्वविद्यालय रायपुर, प्रो0 राजीव रंजन, इतिहास विभाग तिलक माँझी विश्वविद्यालय भागलपुर, बिहार, डॉ0 के0 रत्नम्, एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजकीय महारानी लक्ष्मीबाई स्वायत्तशासी महाविद्यालय ग्वालियर, प्रो0 पंचानन्द मिश्र, पूर्व अध्यक्ष इतिहास विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय बिहार, प्रो0 राजीव दूबे अध्यक्ष इतिहास विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय

जबलपुर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैं इन महान् विभूतियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

पूज्य गुरुदेव डॉ0 त्रिवेणी सिंह, पूर्व प्राचार्य आर0आर0पी0जी0 कालेज अमेठी छत्रपति शाहूजी महाराज नगर, एवं डॉ0 लाल साहब सिंह, प्राचार्य आर0आर0पी0जी0 कालेज अमेठी छत्रपति शाहूजी महाराज नगर, डॉ0 राधेश्याम तिवारी एसोसिएट प्रोफेसर , मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग आर0आर0पी0जी0 कालेज अमेठी छत्रपति शाहूजी महाराज नगर, तथा डॉ0 बालकृष्ण द्विवेदी को मैं प्रणाम करती हूँ जिन्होंने समय–समय पर मुझे सहयोग एवं सुझाव दिया। बिना उनके सहयोग के यह शोध कार्य सम्भव नहीं था।

मैं अपने प्रिय अनुज श्री भाष्कर मिश्र को भी साधुवाद देती हूँ, जिनका योगदान भी इस कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इनके सहयोग को शब्दों की परिधि में बाँध पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। अस्तु, मैं उन्हें अपना शुभाशीर्वाद प्रदान करती हूँ कि वे सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहें।

इसके अतिरिक्त टैगोर पुस्तकालय, लखनऊ, अमीरुद्दौला पुस्तकालय, लखनऊ, विधानसभा पुस्तकालय, लखनऊ, राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी चन्द्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता, पुस्तकालय, रणवीर रणंजय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमेठी से जो सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए इन पुस्तकालय के

पुस्तकालयाध्यक्षों एवं उनके सहयोगियों को धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने उदार मन से आवश्यकतानुसार मेरा सहयोग किया और पुस्तकें उपलब्ध करायीं।

मैं उन सुधी विद्वानों, इतिहासकारों और साहित्यकारों जिनके ग्रन्थों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है उनके प्रति समवेत रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम कर्तव्य है।

अन्त में मैं श्री शिवराज सिंह के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करती हूँ जिन्होंने अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने मे अपना अमूल्य योगदान दिया।

मेरी पूर्ण सतर्कता के बावजूद यदि शोध प्रबन्ध में कुछ कमियां रह गयी हों तो इसके लिए मैं क्षमायाची हूँ। इस कार्य के सम्पादन में जो कुछ साधु है वह गुरुजनों का प्रसाद है और जो कुछ असाधु है वह मेरा प्रमाद है। इसके लिए मैं बार–बार क्षमायाची हूँ।

अजीत कुमारी मिश्रा

अजीत कुमारी मिश्रा

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

दिल्ली सल्तनत की स्थापना एवं अलाउद्दीन खिलजी का उत्थान

प्रथम अध्याय

दिल्ली सल्तनत की स्थापना एवं अलाउद्दीन खिलजी

इस्लाम का आगमन विश्व इतिहास में एक युगान्तर कारी घटना थी। इसने भारत के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डाला। इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है शान्ति में प्रवेश करना। अतः मुस्लिम वह व्यक्ति है जो परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शान्ति का सम्बन्ध रखता है[1]।

मुहम्मद पैगम्बर के नेतृत्व में इस्लाम का प्रादुर्भाव

इस्लाम धर्म के पैगम्बर मुहम्मद साहब थे, उनका जन्म अरब देश के मक्का में हुआ था। उनके जन्म के पूर्व ही उनके पिता की मृत्यु हो गयी, और जिस समय वे छः वर्ष के थे, उनकी माता आमिना का भी देहान्त हो गया। उनके पालन पोषण का कार्य उनके चाचा अबू तालिब ने किया, जो कबीले के स्वामी थे। मुहम्मद साहब को पचीस वर्ष की आयु में खदीजा नामक एक विधवा स्त्री ने अपना व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त किया। मुहम्मद साहब चालीस वर्षीय धनी महिला से प्रभावित हुए और उससे निकाह कर लिया।

चालीस वर्ष की अवस्था में हजरत मुहम्मद ने एक दीर्घकालीन अध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें यह निश्चय हो गया कि वह एक नबी (सिद्ध पुरुष) और रसूल(देवदूत) हैं, जिसे ईश्वर ने मनुष्य मात्र के चिरकालीन धर्म अर्थात् आदम, नूह, मूसा, ईसामसीह तथा अन्य सिद्ध पुरुषों द्वारा प्रतिपादित धर्म, जिनमें कोई अन्तर नहीं समझते (सूरा 2:136) को स्थापित करने के लिए भेजा है। मुहम्मद साहब को जब

धर्म का इलहाम हुआ, तब से लोग उन्हें पैगम्बर नबी और रसूल कहने लगे। इस्लाम धर्म के अनुयायी मुसलमान कहलाते हैं और कुरान उनका मूल एवं पवित्र ग्रन्थ है। मुहम्मद साहब के अनुसार वाणी की निर्मलता और आतिथ्य ही इस्लाम है। धैर्य और नेकी ही दीन या आस्था है। नेकी से सुख और बदी से दुख का बोध ही दीन का लक्षण है। कुरान का अवतरण हजरत मुहम्मद की दिव्य दृष्टि के कारण हुआ था। किन्तु कुरान यह नही कहता कि दिव्य दृष्टि केवल हजरत मुहम्मद को ही मिली थी। प्रत्येक जाति में दिव्य दृष्टि वाले लोग उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सच्चा मुसलमान सभी ग्रन्थों को प्यार करता है।

लगभग तीन वर्ष तक मुहम्मद साहब द्वारा इस्लाम का प्रचार एक गुप्त धर्म के रूप में किया गया। इसके पश्चात हजरत मुहम्मद को दैवीय आदेश हुआ कि वे खुलेआम प्रचार करें और उनके प्रचार का मक्का में स्वार्थी कुरैशियों ने जबरदस्त विरोध किया। उनकी शत्रुता के कारण हजरत मुहम्मद साहब को मक्का छोड़कर मदीना में शरण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। मक्का से मदीना जाने की घटना (622 ई0) इस्लाम के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण समझी जाती है। उसी वर्ष हिजरी सम्वत् का शुभारम्भ हुआ[2]। मदीना में मुहम्मद साहब का भव्य स्वागत हुआ। मदीनावासी इस्लाम के अनुयायी बन गये। इस्लाम की एक विशेषता यह है कि यह अन्य धर्मों की अपेक्षा स्वरूप से अधिक प्रजातांत्रिक है और इसमें भाईचारे के सिद्धान्त पर जोर दिया गया है। इस्लाम की शरण में आ जाने पर सभी बराबर हो जाते हैं। मुहम्मद के उपदेशों में दयालुता और दानशीलता का विशेष महत्व है। मुहम्मद साहब ने कतिपय सामाजिक दोषों को भी दूर करने का प्रयास किया। बाल हत्या को धर्म विरोधी माना गया।

अधिक से अधिक चार विवाह करने का आदेश दिया गया। स्त्रियों के प्रति सद्व्यवहार करने पर विशेष जोर दिया गया। मुसलमानों को स्त्रियों तथा बच्चों की रक्षा करने के लिए सलाह दी गयी। यथा सम्भव उन्हें छल–कपट, झूठ आदि दुर्गुणों से बचने की राय दी गयी। मुहम्मद साहब के उपदेशों का संग्रह कुरान में किया गया। कुरान का महत्व मुसलमानों के लिए ठीक उतना ही है जितना वेदों और गीता का हिन्दुओं के लिए तथा बाइबिल का ईसाइयों के लिए [3]।

मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम का प्रचार–प्रसार प्रारम्भ हुआ। उन्होंने न तो अपने उत्तराधिकारियों का चयन किया और न ही इसके लिए कोई निश्चित नियम ही बनाया। यह निश्चित नहीं हो पा रहा था कि मुहम्मद के पश्चात् उनका धर्म चलेगा भी की नहीं किन्तु उनके अनुयायियों की सर्वसम्मति से साठ वर्षीय अबू बक्र खलीफा बने।

प्रथम खलीफा के रूप में नियुक्त अबूबक्र ने सैनिक अभियान प्रारम्भ करके उन विभिन्न अरबी जन जातियों को अधीन किया जिन्होंने मुहम्मद साहब का अनुगमन किया था। इन सैनिक अभियानों के दौरान अबूबक्र ने अरब देश के उत्तरी सीमाओं की तरफ विस्तार प्रारम्भ किया। इसी विस्तार क्रम में तो अपने शासन के दूसरे वर्ष में अरब देशों चेल्डिया (ईराक) और सीरिया पर आक्रमण कर दिया[4]। अपनी बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्होंने उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और दो वर्ष के बाद अबूबक्र की मृत्यु हो गयी।

द्वितीय खलीफा के रूप में उमर मुसलमानों के आदर्श शासक माने जाते रहे। उनकी न्याय करने की भावना बड़ी कठोर और निष्ठुर थी। उमर

ने पड़ोसी राज्यो पर अरब आक्रमण जारी रखा और 636 ई0 में अरब सेनाओं ने बाइजेन्टाइन साम्राज्य की सेना सीरिया, फिलीस्तीन, ईराक, फारस आदि पर इस्लाम की विजय पताका फहराने लगी।

तृतीय खलीफा उस्मान उमर की मृत्यु के बाद शासक बना। वह कमजोर था और उम्मैया वंश का था। इस वंश के लोग को कम पसन्द किया जाता था। उस्मान की हत्या के छठे दिन चतुर्थ खलीफा अली का अभिवादन किया गया। परन्तु उस्मान के परिवार एवं समर्थक उसे खलीफा मानने को तैयार नहीं थे। अली चौथे खलीफा के रूप में 25 जनवरी 661 ई0 में मारा गया। इसने भारत विजय की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। 661 ई0 में उमैया परिवार के ही सदस्य ने खिलाफत ले ली और यही परिवार 750 ई0 तक शासन करता रहा। फिर भी अली के परिवार ने पराजय स्वीकार नहीं की। जैसे–जैसे समय बीतता गया उन्होंन अपने को एक अल्पसंख्यक समूह के रूप में संगठित कर लिया जिन्हें शिया कहा जाने लगा। इस समूह का मानना था कि केवल अली के वंशज ही खलीफा हो सकते थे। क्योंकि वे ही असली धर्म अनुयायी थे किन्तु जो लोग इस मान्यता से भिन्न थे वे सुन्नी कहलाने लगे[5]।

उम्मैया वंश का योगदान इस्लाम की नींव डालने में महत्वपूर्ण था। उम्मैया काल में ईराक के गवर्नर हज्जाब बिन युसुफ (694–715 ई0) ने सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए अपने भतीजे एवं दामाद मोहम्मद बिन कासिम को नियुक्त किया। कासिम ने कुशल सेनापतित्व एवं सुसज्जित सेना द्वारा 712 ई0 में सिन्ध के राजा दाहिर को परास्त कर सम्पूर्ण सिन्ध को अरब सत्ता के अधीन कर दिया। उसने सर्वप्रथम यहां के लोगों से जजिया वसूल कर उन्हें जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान की। उनके

धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उन्हें मन्दिरों में पूजा करने तथा नये मन्दिरों के निर्माण की स्वतंत्रता प्रदान की गयी।

अरब की मरूभूमि से निकलकर यह सीधा–सादा धर्म जटिल होता गया। उम्मैया राज्यकाल से तो इस्लामी नियमों की पूर्ण अवहेलना होने लगी। धर्मशास्त्रों से खोजकर नये तर्क दिये जाने लगे[6]। अनल्डि महोदय का मत है कि धर्म की उत्कृष्ट अभिलाषा से बहुत कम लोगों ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया, बल्कि इस्लाम के अनुयायियों में बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है, जिन्होंने किसी भी भय या लालच से यह धर्म ग्रहण किया। अरबों की यह विजय भी धार्मिक उत्साह के कारण भी उतनी नहीं हुई, जितनी सम्पन्न और समृद्धि पड़ोसियों की सम्पत्ति पर अधिकार जमाने की तीव्र इच्छा के कारण। इस्लामी राज्य के सिद्धान्त विवेचना में इस्लाम के सिवा किसी अन्य धर्म के अस्तित्व को स्वीकार करने की अनुमति नहीं है। अगर एक इस्लाम राज्य में कोई गैर मुस्लिम हो तो उनसे शासित अथवा निम्न श्रेणी के लागों की तरह व्यवहार किया जाता है[7]।

अब्बासी खलीफाओं ने अपने प्रतिद्वन्दियों का कठोरता से दमन किया, दरबारी परम्पराओं का अनुपालन किया और कुलीन साहित्य को प्राश्रय दिया। अरेबियन नाइट्स की कहानियाँ अब्बासी खलीफओं के काल में लिखी गयीं। अब्बासी खलीफाओं ने सभी मुसलमानों की सैद्धान्तिक समानता को स्वीकार करके अरबों के एकछत्र प्रभुत्व का अन्त किया परन्तु वे सम्पूर्ण साम्राज्य पर अपना आधिपत्य बनाये रखने में विफल हुए। 10वीं शताब्दी के आसपास इसमें विकेन्द्रीकरण तथा विघटन का दौर प्रारम्भ हो गया। इससे खिलाफत के पूर्वी सम्राज्य के अनेक नये स्वतंत्र राजवंश स्थापित हुए। 945 ई0 के बाद से अब्बासी वंश बिना शक्ति के नेतृत्व कर

रहा था। परन्तु मंगोलों द्वारा बगदाद पर अधिकार किये जाने से उनका पूर्ण विनाश हो गया।

इस्लामी राज्य की स्थापनाः

712 ई0 के पूर्व अरबों ने सिन्ध के विरुद्ध दो बार आक्रमण किए, किन्तु दोनो बार उन्हें मुंह की खानी पड़ी। खलीफाओं के काल में भारत विजय के अनेक असफल प्रयास हुए। प्राप्त विवरणों से विदित होता है कि शाही सेना भारतीय सीमान्त पर अनेक बार आक्रमण कर चुकी थी। 711–12 ई0 में मुहम्मद कासिम ने सिन्ध के शासक दाहिर को पराजित कर सिन्ध पर अधिकार कर लिया। चचनामा से विदित है कि आगे चलकर कासिम ने अपनी सेना कन्नौज और कश्मीर पर आक्रमण करने को भेजी। अरबों की तुलना में दाहिर की सेना बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त दाहिर की एक गलती थी। उसने अपने राज्य की सीमा पर अरब आक्रमणकारियों को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वह अपनी राजधानी में निष्क्रिय रूप से पड़ा रहा[8]।

अलबरूनी कश्मीर आक्रमण का उल्लेख करता है। इस्लामी राजधानी के दमिश्क से हटाकर बगदाद आ जाने के बाद भारत विजय के अनेक प्रयास किये गये। 759 ई0 में उमर विनजमाल के नेतृत्व में शाही सेना गुजरात विजय के लिए गयी। परन्तु इसने गन्धार को अधिकृत कर अपनी विजयकृति को स्थायी करने के लिए वहां एक मस्जिद का निर्माण किया। अरब और भारत के बीच अति प्राचीन काल से ही शान्तिपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध चला आ रहा था। धर्म ग्रन्थ तौरेत से विदित होता है कि हजरत आमद हिन्दुस्तान की भूमि पर उतरे थे। सैयद सुलेमान नदवी ने इस पर

वृहद् प्रकाश डाला है। खलीफाओं ने भारत विजय के प्रयास के साथ ही साथ अनेक शान्ति मिशन भी भारत भेजे थे। 771 ई0 में भारतीय मिशन ने खलीफा को ब्रह्म सिद्धान्त की पुस्तक उपहार में भेजी थी। इस पुस्तक का अनुवाद खलीफाओं के दरबारी भविष्य वक्ता अलफजारी ने किया था और उसका नाम महान सिन्ध हिन्द रखा था[9]। सिन्ध पर अरबों का प्रशासन स्थापित हो गया। आरम्भिक काल में परम्परावादी नीति का अनुसरण कर कासिम ने सर्वत्र असहिष्णुता प्रदर्शित की।

देवल विजित हो जाने के पश्चात् वहां के निवासियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उनके स्त्री बच्चों को गुलाम बनाया गया। कहा जाता है कि यहां पर कासिम ने 17 वर्ष से अधिक उम्र के समस्त पुरुषों को मरवा डाला था। नैरून विजय के बाद तो धर्म प्रचार निमित्त वहां के मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनायी गयीं। और यहां धार्मिक शिक्षकों की नियुक्तियाँ की गयीं।

मुस्लमानों की बस्ती सिन्ध तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में फैलनें लगीं। और यहां के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित करने लगे जिसके फलस्वरूप एक मिश्रित वर्ग की उत्पत्ति हुई, जिसने भविष्य में मिश्रित संस्कृति को जन्म दिया।

10वीं शताब्दी में जब एक अरब इतिहासकार ने यहां का भ्रमण किया तो देखा कि यहां की शहरी जनसंख्या अरबी एवं संस्कृत दोनो भाषाएं बोलती थी। कालान्तर में अरब प्रशासन में सहिष्णुता आयी। गैर मुस्लिम प्रजा से जजिया वसूल कर उन्हें समस्त राजनैतिक अधिकार दिये गये। जजिया वसूल करने का अधिकार ब्राह्मणों को दिया गया। दक्षिण भारत में

भी धार्मिक कलह की ज्वाला दहक रही थी। हिन्दू धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव को समाप्त कर उनको अपने अधीन करने का प्रयास कर रहा था। राजनीतिक क्षेत्र में असंतोष एवं उथल–पुथल मची हुई थी[10]। अतः ऐसी स्थिति में जनता शान्ति की इच्छुक थी, चाहे वह जिस ओर से प्राप्त हो।

अतः ऐसी दशा में इस्लाम उनके लिए सरल एवं सहज सिद्धान्त था। यह लोकतान्त्रिक समाज लेकर आया, जिसने जाति विहीन समाज को अप्रभावित नहीं छोड़ा। विशेषकर निम्न जाति के लोग इस नये धर्म की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुए। इस्लाम धर्म स्वीकार करके वे हिन्दू जाति प्रथा से मुक्त हो गये जो उनके लिए एक अभिशाप थी। क्योंकि निम्न जाति में उत्पन्न होने के कारण न तो वे मन्दिर में ईश्वर की उपासना कर सकते थे न वे धार्मिक क्रियाओं में भाग ले सकते थे। इस कारण इस्लाम को ही स्वीकार कर लेने से उनको सामाजिक समता एवं धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई और अब वे मस्जिदों में जाकर ईश्वर की प्रार्थना करने लगे[11]।

धर्म परिवर्तन के फलस्वरूप इस्लाम धर्म का प्रचार तीव्र गति से हुआ और अन्य राजाओं के द्वारा भी मुसलमानों को सुविधाएं प्रदान की जाने लगीं। अब तक अनेक अरब भारत के पश्चिमी तट पर बस चुके थे। कोकण में विवाह करने के कारण वे नवायत, कन्याकुमारी में शादी करने के कारण वे लम्बे तथा मालावर में स्थानीय स्त्रियों से विवाह करने के कारण मोपला कहलाये।

मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के बाद विजय की कामना से अभिभूत होकर अरबों ने गुजरात पर आक्रमण किया था, वे उज्जैन तक बढ़ आये

थे। अरब आक्रमणकारी नागभट्ट प्रथम और चालुक्य नरेश के द्वारा उज्जैन के पास पराजित हुए थे और उन्हें वापस सिन्ध तक ढकेल दिया गया था। इस आक्रमण और पराजय की कहानी को प्रसिद्ध इतिहासकार अल बिलादरी ने लिखा है जिसमें कि अरबों को दोनो नरेशों की संयुक्त सेना के द्वारा पराजित होकर वापस लौटना पड़ा था। भारत में मुस्लिम साम्राज्य का प्रसार एक ऐसी तुर्क जाति ने की थी जिसका स्वयं पूर्ण धर्म परिवर्तन नहीं हो पाया था। इन तुर्कों का अभ्युदय उम्मैया काल से प्रारम्भ होता है।

अब्बासी खलीफाओं के राज्य काल में तुर्क एक पूर्ण शक्ति के रूप में राजनीति में प्रविष्ट हो चुके थे। इनकी वीरता से प्रभावित होकर अब्बासी खलीफाओं ने इन्हें खरीदा और प्रशासनिक तथा सैन्य प्रशिक्षण दिया। वीरता के कारण ये मामलूक भी कहे गये।[12]

खलीफा मंसूर के समय से मामलूक सैन्य पदों पर प्रतिष्ठित होने लगे। अब्बासिद खिलाफत के निर्बल और राजनीतिक एकता के ह्रास होने से राजधानी से दूर स्थित प्रान्त स्वतंत्र होने लगे। इन राज्यों ने वाह्य रूप से खिलाफत की मान्यता प्राप्त की थी। इनमें ताहिरी वंश (820—872), सफफारी वंश (836—903), समानिद वंश (874—999), जियारी वंश (928—1024) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन राजवंशों के बाद तुर्क ईरानी साम्राज्य का अभ्युदय होता है जिसमें गजनी का साम्राज्य (999—1040), सेल्जुक वंश (1037—1157) तथा ख्वारिज्म वंश (1157—1231) प्रसिद्ध हुए। खिलाफत की पतनावस्था में समानिदों के एक गुलाम अफसर सुबुक्तगीन ने बुस्त कुसदर, लमगाम और पेशावर को विजित किया।

भारत में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में इस्लाम को स्थापित करने का सौभाग्य अरबों को प्राप्त नहीं था। वे हिन्दुओं और बौद्धों की सामाजिक सांस्कृतिक उन्नति और उच्च नैतिक चरित्र से मन्त्र मुग्ध थे जिन्हें अरबों ने 'जिम्मी' की पदवी दी। शनैः शनैः भारतीयों को प्रशासन में सम्मिलित किया जाने लगा। जिससे शासकों और शासितों के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित होने लगे। इस कारण अंततोगत्वा भारतीयों ने अपने नए स्वामियों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। ब्राह्मण विद्वान और मनीषी अरब शासक वर्ग को भारतीय भाषाओं और साहित्य दर्शनशास्त्र, खगोलशास्त्र, गणित, औषधि एवं अन्य शास्त्रों की शिक्षा देने लगे[13]।

सिन्ध पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद अरब नई संस्कृति और सभ्यता के हिमायती नहीं रहे बल्कि कालान्तर मेंवे मुस्लिम संसार और यूरोप में भारत के सांस्कृतिक दूत बन गये। सिन्ध और मुल्तान की अरब आबादी के कारण इस्लाम भारतीय धार्मिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया हालांकि आरम्भ में यह देश के केवल एक छोटे भाग तक ही सीमित रहा। विजित क्षेत्रों में कई भारतीयों ने स्वेच्छा से इस्लाम कबूल किया मुस्लिम संतो और उलेमाओं ने भारत के अन्य भागों में इसका शांतिपूर्ण प्रचार किया।

मुस्लिम राज्य मुख्यतः अपने भारतीय प्रजाओं के समर्थन से शक्तिशाली राजपूत राज्यों के निकट रहते हुए भी तीन सदियों तक अपना शांतिपूर्ण अस्तित्व बनाये रहे। राजपूत राज्यों के लिए अरब म्लेच्छ नहीं थे। जबकि तीन सदियों बाद आये महमूद गजनी और उसके तुर्की लुटेरों की लोगों पर उनके द्वारा की गयी बर्बरता और अत्याचारों के कारण सर्वत्र 'म्लेच्छ' के रूप में घोर निन्दा हुई जैसा कि अलबरूनी ने लिखा है कि

सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी ने ही उत्तर और पश्चिम भारत के समस्त राजनीतिक ढांचे को हिलाया। भारत में प्रवेश के बाद विश्व की दो महान संस्कृतियों हिन्दुत्व एवं इस्लाम का सम्पर्क एक अद्भुत घटना कही जा सकती है। दोनो संस्कृतियों ने एक दूसरे को किस सीमा तक प्रभावित किया, यह एक विचारणीय विषय है[14]।

अरबों द्वारा सातवीं आठवीं शताब्दी में जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की गयी थी, धीरे–धीरे उसमें क्षीणता के चन्ह प्रगट होने लग गये थे। जिस प्रकार विशाल गुप्त साम्राज्य हूणों के आक्रमणों का मुकाबला करते–करते क्षीण हो गया था वैसे ही सुविस्तीर्ण अरब साम्राज्य होते रहते थे, और उनसे अपनी रक्षा करने में अरब लोग अपने को असमर्थ पाते थे। दसवीं सदी में अरब साम्राज्य खण्ड–खण्ड होना शुरू हुआ और उसके भग्नावशेषों पर अनेक नये राज्य कायम हुए। इन राज्यों में तुर्की द्वारा स्थापित गजनी के राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तुर्क लोग अरबों के मुकाबले असभ्य थे। इसी कारण अरबों के सम्पर्क में आकर उन्होंने एक धर्म और संस्कृति को अपना लिया। गजनी के तुर्क राज्य का संस्थापक अलप्तगीन था, और उसके बाद सुबुक्तगीन गजनी का राजा बना। उसने अपने तुर्क राज्य के उत्कर्ष के लिए भारत पर अनेक आक्रमण किये। इस समय उत्तर पश्चिमी भारत जयपाल नामक राजा के शासन में था, जिसकी राजधानी सिन्ध नदी के तट पर स्थित ओहिन्द नगरी थी। जयपाल हिन्दूशाही वंश का था और वर्तमान समय में अफगानिस्तान के आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिए जयपाल ने अन्य भारतीय राजाओं की भी सहायता प्राप्त की। खुर्रम नदी के तट पर तुर्क

और भारतीय सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। जिसमें सुबुक्तगीन की विजय हुई[15]।

इस्लाम की मान्यता है कि वह मुस्लिम देश है जिसमें मुसलमानी शासक हो या जिसमें मुसलमान रहते हों। मूर्तिपूजकों को मुस्लिम राज्य में या तो इस्लाम स्वीकार कर लेना चाहिए और नहीं तो मौत अंगीकार करनी चाहिए। भयंकर हत्याकाण्ड से बचने के लिए निर्दोष हिन्दू जनता अवश्य ही इस्लामी धर्म परिवर्तन की ओर अग्रसर हुई होगी। बलात् धर्म परिवर्तन के उदाहरण भी प्राप्त हैं। 1015 ई0 में कश्मीर विजयोपरान्त महमूद ने वहां के निवासियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया। महमूद ने कालिंजर के शासक नन्द के पास इस्लाम स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा परन्तु नन्द ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिय। कुरमित और नार्दीन के शासक भी मुर्तद हो गये थे। नन्द के दमन के लिए स्वयं महमूद विशाल सेना लेकर आया। अन्त में दोनो के बीच एक सन्धि हो गयी। शासक नन्द ने महमूद की प्रशंसा में कुछ कविताएं भेजी, जिन्हें सुनकर महमूद इतना प्रसन्न हुआ कि उसने नन्द को 15 जिले वापस कर दिये। गारदीजी और जैनुल अखबार का मत है कि सन्धि की अन्य शर्तों में जजिया की शर्त भी लागू थी। जिस विशाल सेना के बल पर महमूद ने भारत में लूट–पाट, विनाश और धर्मान्धता प्रस्तुत किया था वह सेना विभिन्न जातियों से मिलाकर बनायी गयी थी। उसके सिपाही न तो धर्म युद्ध के नायक थे और न इस्लाम की मिशनरी भावना से प्रेरित ही थे। वरन् ये भाड़े के सैनिक थे जिन्हें युद्ध के लूटों में प्राप्त धन ही युद्ध के लिए प्रेरित करता है।

इब्न आसीर ने लिखा है कि महमूद की सेना में खिलजी, तुर्क, अफगान तथा हिन्दू सिपाही थे। सर वुल्जले हेग का मत है कि महमूद इस्लाम धर्म के प्रति अत्यधिक उत्साही था।

मुस्लमानों के आक्रमण 11वीं शदी के तीसरे दशक में होने लगे थे। महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये थे। इन आक्रमणों के दौरान उसने भारत के राजपूत शासकों की राजधानियों को लूट कर उनका खूब मान मर्दन किया। मन्दिरों को ध्वस्त किया और अपार धन सम्पत्ति गजनी ले गया। समकालीन इतिहासकारों ने महमूद के इन ध्वंस, हत्या और लूटपाट के कार्यों को अत्यधिक बढ़ा चढ़ाकर बताया है और उसे एक धर्म विजेता के रूप में प्रस्तुत करना चाहा। गुजरात के विजयोपरान्त महमूद ने सोमनाथ की प्रसिद्ध मूर्ति को तोड़ना चाहा। वहां के निवासियों ने मूर्ति के बदले भारी रकम देनी स्वीकार कर ली, किन्तु महमूद ने उनके इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

फरिश्ता का यह विवरण मान्य नहीं है क्योंकि ऐसा ही विवरण वह थानेश्वर प्रसिद्ध जगसोमा की मूर्ति के लिए भी देता है। अतः यह मात्र एक जोड़ी हुई कहानी सी प्रतीत होती है। प्रो0 हबीब ने इसका इसका समर्थन कर यह तर्क दिया है कि सोमनाथ की मूर्ति ठोस लिंग की बनी हुई थी। ऐतिहासिक विवरण से यह सिद्ध है कि मूर्ति तोड़ डाली गयी थी, यह धर्मान्ध कार्य मात्र धन प्राप्ति के लोभ के कारण ही किया गया था। फरिश्ता ने सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़ों को छः सौ वर्ष बाद मक्का और मदीने में देखा था। सोमनाथ मन्दिर के सन्दर्भ में लेफ्टिनेंन्स ब्युरस ने लिखा है कि महमूद ने इस मन्दिर को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया। परन्तु समकालीन इतिहासकारों में ऐसा कोई विवरण प्राप्त नहीं होता,

जिससे ज्ञात हो कि मन्दिर को मस्जिद में बदल दिया गया। महमूद के आक्रमण के समय धर्म परिवर्तन के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं।

उत्बी ने लिखा है कि महमूद ने हिन्दुओं के समक्ष इस्लाम या मृत्यु का प्रस्ताव रखा। उत्बी आगे लिखता है कि विजेता जहां–जहां गया वहां बर्बरतापूर्वक पराजित व्यक्तियों का कत्ल करता गया। इन हत्याओं के सिलसिले में उसने इतना अधिक रक्त बहाया कि नदी का पानी लाल हो गया। नीदर भीम के आक्रमण के बाद महमूद के अधिकार में इतने गुलाम आये कि गजनी के बाजार में गुलामों की कीमत गिर गयी।

अलबरूनी लिखता है कि महमूद के आक्रमणों ने प्रगतिशील देश को अत्यधिक हानि पहुचायी थी किन्तु उसने हिन्दू सैन्य दल का निर्माण किया। यह स्पष्ट नहीं है कि धर्म परिवर्तन करने के बाद उन्हें नियुक्त किया गया था, इस सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। सर वुल्जले हेग का मत है कि शाही नौकरी में प्रविष्ट होने के लिए धर्म परिवर्तन आवश्यक नहीं था। महमूद के सिक्कों पर संस्कृत का प्रयोग वृषभ और घोड़े का चित्रांकन देशी वजनों एवं द्विभाषा का प्रयोग अवश्य ही हिन्दू सुविधा के लिए किया गया था।

लाहौर से जारी किये गये सिक्के में देवनागरी में कलमा का अनुवाद और अल्लाह को शक्ति रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह दृष्टान निःसन्देह हिन्दू दर्शन और इस्लाम धर्म के ज्ञान का प्रमाण है। उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महमूद का भारत अभियान धर्म या जिहाद से नहीं अपितु धन लिप्सा से प्रेरित था। मूर्तियों को कीमती धातुओं से अलंकृत करना प्राचीन हिन्दू परम्परा थी। इस धन प्राप्ति के लिए मन्दिरों

को धराशायी किया जाता था। चिन्तामणि ग्रन्थ से विदित होता है कि सोमनाथ अभियान में उसने अतुल धन सम्पत्ति प्राप्त की। भारत पर महमूद की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने भारत पर अनेक छोटे–छोटे आक्रमण किये। ये आक्रमण लूट और धन प्राप्ति की आकांक्षा से प्रेरित होकर किया गया था। महमूद के आक्रमण के 150 वर्ष के बाद ही गोर के शासक मुइजुद्दीन मुहम्मद बिन सैन ने अपने प्रयासों से भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की। जहां कहीं भी मुस्लिम सेना जाती उसके पीछे मुस्लिम सन्त भी आया करते थे।

महमूद गजनवी के भारत आक्रमण के पश्चात् बहुत से संत एवं दार्शिनिकों का भारत में आगमन हुआ जिसमें अली विन उस्मान अल हुजवीरो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 11वीं शताब्दी में इस्माइल बुखारी भारत आए। 12वीं शताब्दी में प्रसिद्ध सूफी लेखक फरीदउद्दीन अख्तर भारत आए जिन्होंने, मंतिक–उत–तैर तथा तजकिरात–उल– औलिया' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। 1190 में प्रसिद्ध सूफी ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती भारत आए। अजमेर में रहकर उन्होंने बहुत से हिन्दुओं को भी अपने पवित्र चरित्र एवं सरल शिक्षाओं के द्वारा अपना शिष्य बना लिया और वे इस्लाम धर्म के अनुयायी हो गये।

जब तुर्कों ने शुरू में भारत पर आक्रमण किया तो उन्हें यह आवश्यकता हुई कि अपने सिक्कों पर संस्कृत भाषा का प्रयोग करें। वे यह आशा नहीं करते थे कि किसी विदेशी भाषा के सहारे वे भारत में अपने शासन को चला सकेंगे। केवल महमूद ने ही नहीं अपितु अफगान सुल्तानों ने भी शुरू में अपने सिक्कों पर संस्कृत भाषा का प्रयोग किया था। दिल्ली के अफगान सुल्तान अपने शासन के लिए या तो अपने सजातीय सरदारों

और सैनिकों पर निर्भर करते थे और या उन भारतीयों पर जिन्होंने कि इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। इस काल में मुसलमानों की एक पृथक श्रेणी थी जो अपने धर्म, भाषा और संस्कृति को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए थी।

मुहम्मद गोरी के सैनिक अभियाना

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुहम्मद गोरी ने अपने साम्राज्य विस्तार तथा इस्लाम धर्म के प्रचार हेतु भारत पर अपने सैनिक अभियान प्रारम्भ कर दिये, जिसमें उसे आशातीत सफलता मिली। सर्वप्रथम मुहम्मद गोरी ने मुल्तान पर आक्रमण किया। क्योंकि मुल्तान ही भारतीय पश्चिमोत्तर सीमा पर सबसे कमजोर राज्य था और वहाँ के शासक शिया थे। उस आक्रमण में उसे सफलता प्राप्त हुई और उसने मुल्तान को अधिकृत कर लिया। 1178 ई0 में उसने गुजरात पर आक्रमण किया, किन्तु यहाँ के शासक मूलराज द्वितीय के भाई तथा सेनापति भीम ने उसके मंसूबों पर पानी फेर दिया। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी को भारी सैनिक क्षति हुई तथा पराजित होकर भागना पड़ा। मुहम्मद गोरी इसके बाद पंजाब तथा सरहिन्द पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई।

1191 ई0 में मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज तृतीय से तराइन के युद्ध में पराजय स्वीकार की किन्तु प्रतिशोध की भावना से व्याकुल मुहम्मद गोरी ने 1192 ई0 में पृथ्वीराज तृतीय को तराइन के मैदान में हराया। बाद में चन्दावर के युद्ध में जयचन्द को भी मात दी। मुहम्मद गोरी ने भारत के प्रमुख राजवंशों के राजाओं को युद्ध में परास्त कर उनके साम्राज्य के बड़े भू–भाग को अपने अधिकार में कर लिया। भारतीय राज्य की रक्षा और विस्तार का उत्तरदायित्व कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंपकर मुहम्मद गोरी

गजनी वापस लौट गया। कुतुबुद्दीन ने बड़े साहस के साथ इस दायित्व को पूर्णतः निभाया[16]।

कुतुबुद्दीन ऐबक मुहम्मद गोरी का एक दास था। अतः उसके वंश को भारत वंश के इतिहास में दास वंश के नाम से पुकारा गया। मुहम्मद गोरी के निधन के पश्चात् उसके द्वारा विजित भारतीय क्षेत्रों पर उसके गुलाम एवं प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ऐबक का अधिकार हो गया। कुतुबुद्दीन ने भारत में प्रथम प्रभुता सम्पन्न मुस्लिम राजवंश की स्थापना की। दिल्ली इस राज्य की राजधानी थी। अतः इसे दिल्ली सल्तनत कहा गया। चूंकि इस वंश की स्थापना ऐबक के द्वारा की गयी थी, जो मुहम्मद गोरी का एक गुलाम था। अतः इस वंश को गुलाम वंश के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस वंश के लगभग सभी शासक अपने जीवन के आरम्भिक काल में गुलाम रह चुके थे, इसलिए इतिहासकारों ने इसे गुलाम वंश कहा।

कुतुबुद्दीन ऐबक तुर्किस्तान में एक उच्च कुल में उत्पन्न हुआ था। यद्यपि यह देखने में अत्यन्त कुरूप था किन्तु वह एक कुशाग्र बुद्धि का प्रतिभाशाली व्यक्ति था। बाल्यकाल में ही उसे गुलाम बनाकर निशापुर (फारस देश के काजी) फखरूद्दीन के हाथों बेंच दिया गया था। जब फखरूद्दीन की मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्रों ने फिर उसे बेंच दिया। अन्ततोगत्वा मुहम्मद गोरी ने उसे खरीदकर अपना गुलाम बनाया। कुतुबुद्दीन ऐबक को भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह भारत में मुस्लिम साम्राज्य का संस्थापक था। उसने गोरी द्वारा स्थापित तुर्क शत्रुओं का दमन किया। कुतुबुद्दीन ऐबक की आकस्मिक मृत्यु से दिल्ली सल्तनत के उत्तराधिकार का प्रश्न गम्भीर रूप से सामने आया।

लाहौर में तुर्क सरदारों ने उसके पुत्र आरामशाह को गद्दी पर बैठा दिया। किन्तु आरामशाह एक दुर्बल एवं अयोग्य व्यक्ति था। उन दिनों दिल्ली की गद्दी पर एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो योग्य सैनिक तथा अनुभवी शासक हो। अतः दिल्ली के तुर्क सामन्तों, अधिकारियों तथा प्रमुख काजी ने कुतुबुद्दीन के दामाद इल्तुतमिश को राजमुकुट धारण करने के लिए बाध्य किया[17]।

वस्तुतः दिल्ली का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति गोर के किसी शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतंत्र सुल्तान था। इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसे अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मुहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण ऐबक की भांति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था। इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था न कि उसका वंशज। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ[18]।

इल्तुतमिश एक योग्य सुल्तान सिद्ध हुआ। उसने अपने 25 वर्षों के शासनकाल में विद्रोही राजपूतों का दमन किया और दिल्ली सल्तनत को एक सुदृढ़ प्रशासनिक आधार देने का प्रयास किया। किन्तु गुजरात, जालौन, मालवा, चित्तौड़ आदि राजपूत राज्यों को वह दिल्ली सल्तनत में शामिल न कर सका। 1236ई0 में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गयी। इल्तुतमिश

की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी आयोग्य निकले। अतः सत्ता पर अधिकार करने के लिए सुल्तान और तुर्क दास अधिकारियों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष ने इल्तुतमिश के वंशजों की बलि ले ली।

रूकुनुद्दीन फिरोजशाह (1236), रजिया (1236–040), मुईजुद्दीन बहरामशाह (1240–42), अलाउद्दीन मसूदशाह (1242–46) तथा नासिरूद्दीन महमूद (1246–66) को अपने प्राण गवाने पड़े। 1266 ई0 में बलबन सत्तारूढ़ हुआ। वह एक कठोर एवं अनुशासन प्रिय शासक था। उसने दैवी राजत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सुल्तान की प्रतिष्ठा को बढ़ाया तथा सैनिक बल पर आधारित शासन की स्थापना की। उसके समय में मंगोलों ने बार–बार भारत पर आक्रमण किया। अतः विरासत में प्राप्त दिल्ली सल्तनत (साम्राज्य) को वह विस्तृत नहीं कर पाया। मंगोल आक्रमण से वह इतना भयभीत था कि अपने पड़ोसी स्वतंत्र राजपूत राजाओं के विरुद्ध सैनिक अभियान ले जाने की उसकी हिम्मत न पड़ी और 1287 ई0 में उसकी मृत्यु हो गयी। डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने लिखा है ''बलबन ने तुर्की सल्तनत की रक्षा का सुप्रबन्ध किया और उसे नया जीवन प्रदान किया। वही उसका सबसे महान कार्य था[19]।

अलाउद्दीन खिलजी का जीवन परिचय

अलाउद्दीन, सुल्तान जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का भतीजा तथा दामाद था। उसका पिता शहाबुद्दीन मसऊद खिलजी बलबन की सीमान्त क्षेत्र की सुरक्षा के लिए नियुक्त सेना में एक सैनिक था। अलाउद्दीन का जन्म 1266–67 ई0 में हुआ था और वह अपने माता– पिता का ज्येष्ठ पुत्र था। अलाउद्दीन का बचपन का नाम अली अथवा गरशास्प था।

शहाबुद्दीन मसऊद की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् सुल्तान जलालुद्दीन ने ही अलाउद्दीन का पालन–पोषण किया। तत्कालीन इतिहासकारों ने अलाउद्दीन के बाल्य जीवन का समुचित वर्णन नहीं किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जलालुद्दीन ने उसे अच्छे ढंग से पाला–पोसा था और उसने उसे अपने पिता की अनुपस्थिति का भान भी नहीं होने दिया। प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने पर उसने मध्यकालीन युग की आवश्यकताओं के अनुरूप ही घोड़े की सवारी, तलवार चलाने, नेजा फेंकने, मल्ल युद्ध, युद्ध बिहार एवं अस्त्र –शस्त्रों के प्रयोग में तथा खेल–कूद में निपुणता प्राप्त की।

सुल्तान जलालुद्दीन भी उसकी प्रतिभा से प्रभावित था और उसने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। अलाउद्दीन को अपनी इस पत्नी से प्रारम्भ से ही मन मुटाव था और उसका दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं था। अब्दुला नामक विद्वान ने अपनी रचना 'जफरूल वाहेल वे मुजफ्फर रवालेह' में अलाउद्दीन के पारिवारिक कलह और उसकी प्रेम गाथा का वर्णन किया है। अपने विवाह के बाद भी वह महरू नामक एक सुन्दरी युवती से प्रेम करता था जो मलिक खंजर की पुत्री थी। इससे उसकी पत्नी अलाउद्दीन से रुष्ट रहती थी। एक बार जब अलाउद्दीन और महरू अपने प्रेमवार्ता में लिप्त थे, तब उसने उन दोनों को भला बुरा कहा और अपने जूते से महरू की पिटाई भी की। इससे क्रोधित होकर अलाउद्दीन ने उस पर तलवार से प्रहार कर दिया। किन्तु इस प्रहार से उसे गम्भीर चोट नहीं आयी। इस घटना ने दोनो के बीच की खाई को और गहरा बनाया। सुल्तान की पुत्री होने के नाते उसमें घमंड भी आ गया था और वह अलाउद्दीन को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी। स्वाभिमानी

अलाउद्दीन के लिए इस उपेक्षा को बर्दाश्त करना असम्भव था। उसे अपनी सास की झिड़की भी सुननी पड़ती थी। उसने अपने अपमान का बदला लेने और स्वयं सुल्तान बनने का संकल्प कर लिया था[20]।

शिक्षा :

अलाउद्दीन खिलजी में शिक्षा के प्रति अभिरुचि न होने के कारण वह बहुत कम पढ़–लिख सका। शिक्षा–दीक्षा की समुचित व्यवस्था का आभाव होने पर भी उसकी प्रतिभा मंद एवं कुंठित नहीं हुई। विद्या के प्रति प्रेम का आभाव अलाउद्दीन के स्वाभाव की पाशविकता और क्रूरता के लिए उत्तरदायी हो सकता है, क्योंकि विद्या व्यक्ति को मानवता और दया के तत्व प्रदान करती है। जब राज्य के लिए हानिकारक कोई बात होती तब सम्राट के हृदय में दया की सारी भावनाएं समाप्त हो जाती थीं। जलौर में विद्रोहियों के परिवारों को दिये गये दण्ड के लिए बरनी जैसे मध्यकालीन वृतांतकार के हृदय को भी लज्जा और क्षोभ से भर दिया। वह लिखता है कि अपनी प्रच्छन्न क्रूरता, उदण्डता और रूखे स्वाभाव के कारण सुल्तान कुख्यात फरोहों के अनुरूप नृशंस दण्ड देता था और रक्त तथा स्नेह के बन्धन भी उसे कठोरतम दण्ड देने से न रोकते थे[21]। व्यापारियों को उसके पाशविक दण्ड, दिल्ली के लोगों पर नुसरतखाँ के अत्याचार और उसके सम्बन्धियों की हत्या करने में सुल्तान की क्रूरता बहुत भयावह है। जलालुद्दीन, उमरखां और मंगूखां की हत्या और उलुगखाँ को गुप्त रूप से विष दिया जाना सुल्तान के अमानवीय स्वाभाव का प्रमाण देते हैं। यह सत्य है कि धनवानों के बारंबार होने वाले विद्रोह और शासकीय कर्मचारियों की दुष्टता उसकी कठोरता को पर्याप्त औचित्य प्रदान करते हैं,

किन्तु इसके साथ ही यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसके दण्ड पाशविकता के बहुत निकट थे[22]।

सुल्तान के स्वाभाव में प्रतिशोध की भावना कूट–कूट कर भरी थी। किसी के प्रति एक बार उसकी धारणा बुरी हो जाती तो उसे नष्ट करने में कुछ भी कदम उठा सकता था। यदि वह किसी को बंदी बना लेता था तो वह उसे मुक्त करने का कभी विचार न करता था और अनेक भोले –भाले लोग केवल इसलिए दण्ड पा जाते कि सुल्तान उन्हें द्वोषी समझता था[23]। जिन जलाली अमीरों ने अपने संरक्षक की हत्या के पश्चात् इस उद्दीयमान सितारे के ध्वज के अन्तर्गत शरण ली थी, उन्हें दण्डित किये जाने से अधिक भयावह घटना शायद ही कोई हो। जब तक अलाउद्दीन को उनके समर्थन की आवश्यकता थी, उसने उन्हें संतुष्ट रखा, उनका सम्मान किया और उन्हें पद तथा धन बांटा। किन्तु जैसे ही वह सिंहासन पर सुरक्षित हो गया उसने उनकी भूमि जब्त कर ली, कुछ को बन्दी बना लिया और शेष को मार डाला। उसके स्वाभाव की स्थूलता बिना उसकी चेतना को कचोटे उसे ऐसे घृणित कृत्य करने के लिए उत्तेजित करती थी। ऐसा व्यक्ति दाम्पत्य प्रेम की भावनाओं से अवश्य मुक्त होना चाहिए। उसकी जीवन कथा बताती है कि वह रूमानी तबियत का नहीं था। यद्यपि जलालुद्दीन की पुत्री, अल्पखाँ की एक बहन, बादशाह बेगम, मुईजुद्दीन कैकुबाद की एक पुत्री जिसे मल्का माहक भी कहा जाता था और जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह की माँ थी, कमला देवी और रामदेवी की पुत्री जैसी उसकी अनेक पत्नियां थीं, तथापि ऐसा नहीं लगता कि वह कभी स्त्रियों के प्रभाव में रहा हो। जलालुद्दीन की पुत्री से अलाउद्दीन की न बन सकी, और माहरू ने, जिसके लिए कहा जाता है कि उसने अपने

चाचा की पुत्री को त्याग दिया था, अपने अंतिम दिन एक बंदी के रूप में दुःखद सूनेपन में काटे।

यद्यपि जलालुद्दीन शिक्षित नहीं था तथापि उसमें व्यावहारिक ज्ञान की कमी नहीं थी और वह अपने राज्य की आवश्यकताओं को भली –भांति समझता था। अब्बासी खलीफाओं के आदर्श पर धर्म की रक्षा व प्रचार किसी भी सुल्तान का मुख्य कर्तव्य होता था। परन्तु बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों ने कभी भी धर्म को राजनीति के ऊपर स्थान नहीं दिया। अलाउद्दीन की लौकिक शक्ति ने धार्मिक शक्ति को पूर्णतः आच्छादित भी किया। अलाउद्दीन ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक आवश्यकताएं धार्मिक सहिष्णुता की मांग करती हैं और एक अस्थिरबुद्धि व धर्मांध शासक की अपेक्षा एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता को महसूस करती हैं। जब अलाउद्दीन गद्दी पर आसीन हुआ तो उसने स्पष्ट रूप से यह विचार प्रकाट किया कि राजनीति तथा धर्म बिल्कुल ही भिन्न तथा विपरीत कार्यक्षेत्र हैं। धर्म और धार्मिक आदेशों का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है और राजनीति के कानून स्वयं अपने आप में कानून है एवं उन पर धार्मिक कानून का कोई दबाव नहीं होना चाहिए। वह केवल जनहित को अपना कर्तव्य मानता था, धार्मिक कानूनों को नहीं। उसे विश्वास था कि किसी भी देश के, और विशेषकर हिन्दुस्तान के कार्यों को 'शरीअत' का पालन या प्रोत्साहन देकर नहीं किया जा सकता। जनता पर कोरे उपदेशों का प्रभाव प्रायः नहीं पड़ता है ऐसी परिस्थिति में उसके साथ कठोरता का व्यवहार कभी–कभी आवश्यक होता है।

निष्कर्षताः यह कहा जा सकता है कि एक शिक्षित व्यक्ति के कार्य एवं सफलता से अलाउद्दीन खिलजी की उस समय की सफलता अधिक मूल्यवान है।

उत्कर्ष एवं महत्वाकांक्षा

अलाउद्दीन का उत्कर्ष काल जलालुद्दीन के राज्यारोहण के पश्चात् शुरू हुआ। गुलाम वंश के अंतिम सुल्तान कैकुबाद के हत्याकांड में सक्रिय भाग लेकर अलाउद्दीन ने उस वंश की सम्पत्ति और खिलजी वंश के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसकी इस सहायता से प्रसन्न होकर जलालुद्दीन ने सुल्तान बनने के बाद उसको 'अमीर–ए–तुजक' के महत्वपूर्ण पद से विभूषित किया था। कड़ा के प्रीतपति मलिक छज्जू के विद्रोह के दमन में भी अलाउद्दीन ने सक्रिय सहयोग दिया। अतः विद्रोह के दमन के पश्चात् सुल्तान ने खुश होकर अलाउद्दीन को कड़े का प्रान्तपति भी नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर अलाउद्दीन एक बड़े प्रान्त का प्रान्तपति बन गया। धीरे–धीरे उसकी गणना सुल्तान के श्रेष्ठ प्रान्तपतियों और सरदारों में की जाने लगी और उसका प्रभुत्व बढ़ता चला गया। मलिक छज्जू के अनुयायी अब अलाउद्दीन के चारो ओर इकट्ठा होने लगे। शक्ति तथा धन प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले नवयुवक खिलजी सैनिक और सेनापति भी उसे अपना नेता मानते थे। उन्होंने अलाउद्दीन को परामर्श दिया कि जलालुद्दीन अपनी कायरता और उदार नीति के कारण दिल्ली की गद्दी पर बने रहने के सर्वथा अनुपयुक्त है, और उसके स्थान पर अलाउद्दीन को, जो एक प्रतिभा

सम्पन्न तथा शासकोचित सभी गुणों से पूर्ण था, स्वयं सुल्तान बनना चाहिए। उन्होंने अलाउद्दीन को पुनः इस बात की सूचना दी की कड़ा और अवध की जनता पूरी तरह से उसके साथ है। अतः समुचित धन एकत्रित कर उसे सुल्तान की सत्ता को अपने हाथ में जल्द–से– जल्द ले लेना चाहिए क्योंकि इस बात की संभावना थी कि जलालुद्दीन की दब्बू नीति का लाभ उठाकर मलिक अहमद चप अथवा सुल्तान का पुत्र अर्कली खाँ स्वयं सुल्तान बनने का षड्यन्त्र कर सकते थे। इस प्रकार की चाटुकारिता और परामर्श से अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षा उत्तरोत्तर बढ़ती चली गयी। वह अपनी पत्नी और सास की उसके प्रति उपेक्षा का भी बदला लेना चाहता था[24]।

किन्तु अलाउद्दीन एक चतुर व्यक्ति था और इस दिशा में वह किसी प्रकार जल्दबाजी नहीं करना चाहता था। वह प्रहार करने के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतिक्षा करता रहा। इसी बीच अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए उसने महत्वपूर्ण प्रयास किये। उसने आज्ञाकारी स्वामिभक्ति, योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को अपने गुट में शामिल किया। उसके भाई ने दिल्ली दरबार में उसका प्रतिनिधित्व किया तथा उसके हितों की रक्षा की और सेना को अच्छे ढंग से संगठित किये। फिर उसने अधिक–से–अधिक धन एकत्रित करने के लिए आक्रमण, विजय और लूट की योजना बनाई। 1292 ई0 में अलाउद्दीन ने सुल्तान से भेंट की तथा भिलसा पर आक्रमण करने की अनुमति प्राप्त की। इसी वर्ष उसने मालवा में प्रवेश किया और भिलसा के नगर को जीत कर बहुत सा धन तथा बहुमूल्य वस्तुऐं लूट कर लाया। लूट का एक भाग उसने सुल्तान के पास भेज दिया। इससे सुल्तान काफी प्रसन्न हुआ और उसने अलाउद्दीन के

सम्मान में वृद्धि हेतु उसे 'अरिज–ए–मुमालिक' के पद पर प्रतिष्ठित किया और उसे कड़ा के अतिरिक्त अवध का प्रान्तपति नियुक्त कर दिया। इस प्रकार निरन्तर विजय घोष ने अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षा को विकसित और पल्लवित होने का सुअवसर प्रदान किया तथा उसकी विजय लिप्सा अबाध गति व अनियंत्रित रूप से बढ़ती गयी।

किन्तु सुल्तान की मुख्य लालसा थी उसकी महत्वाकांक्षा। वह अमरत्व का प्यासा था। सिकन्दर की विजयों से भी ऊपर उठना और एक ऐसे धर्म की प्रतिस्थापना करना जो मानव जाति की गाथा में उसका नाम अमर कर दे, ये उसकी दो ज्वलंत आकांक्षाएं थी। मदिरा की उत्तेजना, मित्रों की चाटुकारिता और साहसिक कार्यों मे उसके महान सौभाग्य के कारण उसकी ये अव्यावहारिक धारणाऐं और भी बढ़ गयीं। किन्तु सौभाग्य से अलाउद्दीन की पागलपन जैसी योजनाओं की तीव्रता को उसके स्वामिभक्ति सलाहकार मलिक अलाउल्मुल्क ने कम कर दिया। इस अमीर की दलीलों के पश्चात् सुल्तान ने अपना सारा ध्यान मुगलों को पराजित करने और भारत के स्वतंत्र राज्यों को विजित करने में लगाया। किन्तु एक बात निश्चित है चाहे वे अलाउद्दीन की विजयें हो, उसके भवन निर्माण सम्बन्धी कार्य हो या उसके आर्थिक सुधार। उसके प्रत्येक कार्य में सुल्तान की अबाध महत्वाकांक्षा और कुछ श्रेष्ठ कार्य कर जाने और नाम अमर छोड़ जाने की इच्छा परिलक्षित होती है।

प्रकृति ने अलाउद्दीन में व्यावहारिकता कूट–कूट कर भरी थी। वास्तविकता के प्रति उसे अन्धा किये बिना उसकी आकांक्षा ने उसे एक कुशल कूटनीतिक बना दिया था। किसी योजना को हाथ में लेने के पूर्व वह पूरी तैयारी करता था। देवगिरि पर उसके द्वारा किये गये धावे का

समाचार शाही दरबार में न पहुँचे इसके लिए उसने जो सावधानी बरती वह प्रसंशनीय है। चाहे वह देशी राजाओं से युद्ध कर रहा हो, या मुगल आक्रान्ताओं से लोहा ले रहा हो, सुल्तान ने सदैव ही धैर्यपूर्ण सजगता का प्रदर्शन किया। अलाउद्दीन ने साम्राज्य का निर्माण किया था, उसे वह उत्तराधिकार में नहीं मिला था और जीवनोपर्यन्त उसे जीवन के ''कड़वे और मीठे'' घूँट पीने पड़े। अनुभवों ने उसे हर कार्य ठंडे और समुचित विचार के पश्चात् करना सिखाया था[25]।

अलाउद्दीन खिलजी की भिलसा विजय

जलालुद्दीन खिलजी के महत्वाकांक्षी भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने 1292 ई0 में भिलसा पर विजय प्राप्त की। लूटमार में उसे बहुत सा धन मिला, जिससे प्रसन्न होकर जलालुद्दीन खिलजी ने उसे कड़ा के साथ अवध का सूबेदार बना दिया।

देवगिरि विजय एवं अकूत धन की प्राप्ति

समकालीन इतिहासकार बरनी के अनुसार अलाउद्दीन अपनी सास तथा पत्नी से मनमुटाव हो जाने के कारण दुखी होकर अपने लिए उचित स्थान ढूंढ़ निकालने के उद्देश्य से दक्षिण जाने को बाध्य हो गया। निजामुद्दीन और बदायूनी ने भी इसी विचारधारा पर जोर दिया है।

दूसरा कारण अपने भिलसा–विजय के समय अलाउद्दीन ने देवगिरि के यादव वंशी राजाओं की समृद्धि एवं वैभव की कहानियाँ सुनी जिससे उसके हृदय में दक्षिण भारत को विजय करने की उत्कंठा प्रज्वलित होने लगी। उसने अपने चाचा सुल्तान जलालुद्दीन से अपने सैनिकों की संख्या

में वृद्धि करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। किन्तु देवगिरि पर आक्रमण करने की अपनी योजना को उसने सुल्तान से छिपाकर रखा। उसने इस योजना के लिए बड़ी सावधानी से तैयारियां की और अपने नायक अला–उल–मुल्क को कड़ा में नियुक्त करके 1294 ई0 में आठ सहस्र अश्वारोही सैनिकों को लेकर दक्षिण के लिए प्रस्थान किया। देवगिरि का शासक राजा रामचन्द्र अलाउद्दीन की गतिविधि से परिचित था। अतः वह उसके साथ युद्ध करने में असहाय सिद्ध हुआ। उसकी अधिकांश सेना उन दिनों उसके पुत्र शंकरदेव (सिंघन) के साथ तीर्थ यात्रा अथवा दक्षिण विजय के लिए गयी हुई थी। राजा रामचन्द्र अलाउद्दीन के इस आकस्मिक आक्रमण से स्तभिंत रह गया। रामचन्द्र जल्दी में दो–तीन सहस्र सैनिक एकत्रित किए और देवगिरि से बारह मील दूरी पर स्थित लसूड़ा के मैदान में शत्रु सेना का सामना किया। किन्तु अलाउद्दीन की सेना ने, जो संख्या में रामचन्द्र की सेना से कहीं अधिक थी, उसे पराजित करके किले की भीतर शरण लेने के लिए बाध्य किया। अलाउद्दीन ने देवगिरि के किले को घेरकर यह अफवाह फैला दी कि उसकी सेना की एक कड़ी टुकड़ी पीछे से आ रही है। इस सूचना से आतंकित होकर रामचन्द्र ने अलाउद्दीन के साथ सन्धि करना स्वीकार कर लिया और उसे पचास मन सोना और बहुत से बहुमूल्य मोती तथा अन्य वस्तुएं भेंट की तथा अलाउद्दीन द्वारा लूट में प्राप्त धन का कोई विवरण नहीं मांगा।

अलाउद्दीन अब देवगिरि से लौटने की तैयारी करने लगा। किन्तु, इसी बीच राजा रामचन्द्र का पुत्र शंकर देव (सिंघन) दक्षिण से लौट आया और अपने पिता की सलाह के विरूद्ध उसने अलाउद्दीन की सेना पर आक्रमण कर दिया। अलाउद्दीन ने भी युद्ध करने का निर्णय किया। उसने

अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। एक को उसने नगर की देखभाल के लिए छोड़ दिया जिससे रामचन्द्र अपने पुत्र की सहायता के लिए नहीं पहुंच सके। दूसरे भाग को लेकर उसने शंकर देव से लड़ने की तैयारी की। दोनो में भयंकर संघर्ष हुआ और शंकरदेव की सेना ने अलाउद्दीन को परास्त कर दिया और उसकी सेना के पैर उखाड़ दिये। पर इसी समय नसरत की अधीनता में उसकी सेना का दूसरा भाग नगर की सीमा से चलकर उसकी सहायता के लिए पहुंच गया। शंकरदेव ने समझा कि यह दिल्ली से आने वाली सेना है जिसके विषय में अलाउद्दीन ने अफवाह फैला रखी थी। इससे उसका आत्मविश्वास टूट गया और उसकी पराजय हो गयी। अलाउद्दीन ने पुनः दुर्ग को घेर लिया। रामचन्द्र ने कुछ हिन्दू शासकों को इकट्ठा कर शत्रु का सामना करना चाहा। परन्तु जब उसे विदित हुआ कि रक्षा–सेना के लिए जो रसद के बोरे इकट्ठे किये गये थे उनमें अन्न की जगह नमक भरा हुआ है, तो उसने युद्ध का विचार त्याग दिया। अतः रामचन्द्र को अलाउद्दीन के साथ सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस बार शर्तें पहले से भी कठोर थीं। रामचन्द्र ने सन्धि की शर्तों के अनुसार अलाउद्दीन को छः सौ मन सोना, दो मन हीरे, लाल, पन्ने तथा नीलम, एक हजार मन चाँदी, चार हजार रेश्मी वस्त्र के थान और बहुसंख्यक घोड़े दिये। उसने रामचन्द्र के एलिचपुर का क्षेत्र भी छीन लिया। इस विपुल धनराशि को लेकर अलाउद्दीन कड़ा लौट गया[26]।

फरिश्ता के अनुसार देवगिरि से ''छः सौ मन सोना, सात मन मोती, दो मन हीरे, लाल, पन्ने तथा नीलम, एक हजार मन चाँदी, चार हजार थान रेश्म और अन्य वस्तुएं सम्मिलित थीं।'' बरनी का कहना है कि दक्षिण से इतना धन लाया गया कि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों के द्वारा

व्यय किये जाने पर भी उसका बहुत सा अंश फिरोज तुगलक के समय तक रहा। समकालीन लेखक अमीर खुसरो ने भी इस कोष का वर्णन किया है।

जलालुद्दीन फिरोज खिलजी की हत्या

देवगिरि की असाधारण विजय से अलाउद्दीन का सिर फिर गया और वह दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ होने के लिए लालायित हो उठा। उसके समर्थक अमीर और सरदार उसे इसमें शीघ्रता करने को प्रेरित कर रहे थे। उसकी पारिवारिक कठिनाइयां और अपनी पत्नी की अनबन भी उसके सुल्तान बनने की महत्वाकांक्षा को प्रबल बना रही थी अलाउद्दीन अब अधीर हो उठा और उसने अपने चाचा और ससुर जलालुद्दीन की निर्मम हत्या का गुप्त षड्यन्त्र रचा। उसने सुल्तान को अपने जाल में फंसाकर कड़ा के निकट 19 जुलाई, 1296 ई0 को उसकी हत्या करवा दी और स्वयं सुल्तान बन बैठा। जलालुद्दीन खिलजी की हत्या में अलाउद्दीन खिलजी के बड़े भाई अलमास बेग (उलुग खाँ) का महत्वपूर्ण योगदान था।

अलाउद्दीन की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ एवं उस पर विजय

अलाउद्दीन ने सुल्तान जलालुद्दीन के खून से हाथ रंग करके दिल्ली की गद्दी को प्राप्त किया था। अतः उसको प्रारम्भ में विकट परिस्थितियों और समस्याओं का सामना करना पड़ा। दिल्ली का ताज उसके लिए कांटो की शैय्या सिद्ध हुआ। चारों ओर से उसने अपने आपको कठिनाइयों से घिरा पाया। वह अपहरणकर्ता था और उसने अपने उपकारी चाचा की निर्मम हत्या की थी। अतः सभी भले और विचारवान अमीरों,

सरदारों प्रान्तपतियों और स्वामी सामान्य जनता की आँखों से वह गिर गया। इसके अतिरिक्त जलालुद्दीन के पक्षपाती और भक्त अमीर, सरदार और अनुयायी अलाउद्दीन की कृतघ्नता से क्रोधित हो उठे थे और अपने दमन की आशंका तथा स्वर्गीय सुल्तान की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए संगठित हो रहे थे। तीसरे, दिल्ली की जनता जो स्वर्गीय सुल्तान की सरलता और उदारता पर मुग्ध थी, वह सुल्तान के हत्यारे अलाउद्दीन से काफी असन्तुष्ट हो गयी थी। चौथा, सल्तनत में अलाउद्दीन के वंशजों में सबसे अधिक अनेक शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी अभी जिन्दा थे, जो उसकी सत्ता को चुनौती दे रहे थे।

जलालुद्दीन खिलजी का समर्थक अहमद चप अत्यन्त शक्तिशाली था जिसकी गणना उस समय तुर्की सल्तनत के निर्भीक योद्धाओं में की जाती थी तथा अलाउद्दीन अभी दिल्ली से बहुत दूर था और हिन्दुस्तान का प्रभुत्व उसी व्यक्ति के हाथों में समझा जाता था जिसका दिल्ली की गद्दी पर अधिकार हो। जलालुद्दीन की विधवा माँ मलिका–ए–जहाँ ने राज पद खाली न रख और उच्च अधिकारियों और अमीरों के परामर्श से उसने अपने द्वितीय पुत्र कद्र खाँ को रुकुनुद्दीन इब्राहिम के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया और उसकी संरक्षिका बनकर समस्त राजसत्ता को अपने हाथों में ले लिया था। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्कली खाँ को, जो उन दिनों मुल्तान का प्रान्तपति था, जल्द दिल्ली आने का आदेश दिया। यह अलाउद्दीन का सौभाग्य था कि अर्कली खाँ ने कद्र खाँ को गद्दी पर बैठाना अपने स्वाभिमान के विरुद्ध समझकर दिल्ली में जाने से अपनी असमर्थता प्रकट की और वह मुल्तान में ही रह गया। पाँचवीं, मुसलमानों को गृह–युद्ध और उत्तराधिकार की समस्याओं में उलझा पाकर

शक्तिशाली हिन्दू राजाओं और सामन्तों ने भी विद्रोह कर दिये। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि सल्तनत को विकट परिस्थिति में पाकर मंगोलो ने दोगुने जोश से साम्राज्य के पश्चिमोत्तर क्षेत्र पर आक्रमण शुरू कर दिये थे।

स्पष्ट है कि अलाउद्दीन की प्रारम्भिक समस्याऐं अत्यन्त विकट थीं। किन्तु उसने इन समस्याओं और विकट परिस्थितियों का पूरी दृढ़ता, संयम और शक्ति के साथ सामना किया। प्रारम्भ में उसने इन समस्याओं से घबराकर बंगाल में शरण लेने का निर्णय किया था। किन्तु अब उसने अबिलम्ब दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना बनाई। जब उसे इस समाचार की सूचना मिली कि उसके विरोधियों में फूट पड़ गयी है तो उसका संकल्प और दृढ़ हो गया। अब वह अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। उसने अपना पक्ष मजबूत करने के उद्देश्य से अपने समर्थक अमीरों, सरदारों और अधिकारियों को उपाधियों और पदोन्नति के द्वारा प्रसन्न किया। अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास वेग को 'उलुग खाँ' की उपाधि से विभूषित किया, मलिक खंजर और मलिक हजबरूद्दीन को क्रमशः 'अलप खाँ' और 'जफर खाँ' की उपाधि प्रदान की, अनेकों की पद वृद्धि की तथा अधिकारी गणों की वेतन वृद्धि कर दी। मार्ग में उसने उन्मुक्त हाथों से जलाली अमीरों, सरदारों तथा सामान्य जनता के बीच देवगिरि से प्राप्त धन का वितरण किया। उसकी इस उदारता से विरोधी जलाली सामन्त और सरदार तथा जनता काफी सन्तुष्ट हो गयी। मनुष्य की स्मृति अत्यन्त छीण होती है। अब लोग जलालुद्दीन की निर्मम हत्या को भूल गये और अलाउद्दीन की उदारता, दानशीलता तथा धर्मपरायणता का गुणगान करने लगे। ''अलाउद्दीन की धन रूपी वर्षा के बाढ़ में वृद्ध

सुल्तान की स्मृति रूपी नौका डूब गयी।'' रास्ते में अलाउद्दीन सैनिकों की नियुक्ति करता जाता था, अतः जल्द ही उसकी सेना की संख्या बढ़कर विशाल हो गयी। उसने भारी धन तथा पदों का लालच देकर अनेक ऐसे सरदारों, अमीरों और सेनापतियों को अपनी ओर मिला लिया जिन्हें 'मलिका–ए– जहाँ' ने उसका सामना करने के लिए नियुक्त कर रखा था। धनलोलुपता, पदोन्नति और प्राणरक्षा के भय से अनेक विश्वासी जलाली अमीर, सेनापति और सैनिक अलाउद्दीन के खेमें चले आये[27]।

अलाउद्दीन खिलजी का सिंहासनारोहणः

अलाउद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित करने के पश्चात् दिल्ली की ओर कूच किया। दिल्ली अभी जलालुद्दीन के पुत्रों के अधिकार में थी। अलाउद्दीन ने धन का लालच देकर दिल्ली के सैनिकों तथा सरदारों को अपनी तरफ मिला लिया। बरनी ने लिखा है कि ''उसने दगाबाज लोगों में इतना सोना बांटा कि वे अपने सुल्तान का वध भूल गये और अलाउद्दीन के राज्यारोहण से हर्षित होने लगे। अर्कली खाँ मुल्तान में था और जलालुद्दीन का छोटा पुत्र कादिर खाँ भी मुल्तान भाग गया। जिससे लाभ उठाकर अलाउद्दीन खिलजी अक्टूबर 1296 ई0 को विधिवत् सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने 'अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दीन–व–दीन मुहम्मदशाह खिलजी' की पदवी धारण की और कौशाक–ए–लाल (लाल महल) को जहाँ पहले सुल्तान बलबन रहता था, अपना निवास स्थान बनाया[28]।

पदाधिकारियों की नियुक्ति

अलाउद्दीन ने अपने शासनकाल में एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन–व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान शासन का सर्वेसर्वा और शासन–

व्यवस्था के प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष होता था। शासन की सारी शक्तियां उसके हाथों में केन्द्रीभूत थीं। उसके अधिकारियों पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं था। वह सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था। शासन–प्रबन्ध को सुचारू रूप से चलाने के लिए तथा शासन की सुविधा हेतु सुल्तान ने मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की थी, किन्तु सम्बद्ध विभागों के मंत्रियों के परामर्श को स्वीकार करना अथवा अस्वीकृत कर देना सुल्तान की स्वेच्छा पर निर्भर था। केन्द्रीय शासन को सुदृढ़ करने बनाने के लिए सेना के संचालन का कार्य स्वयं सुल्तान ने अपने हाथों में ले लिया। राज्य का प्रधान सेनापति और प्रधान मंत्री वह स्वयं ही था। मंत्रियों और सेनापतियों के पदों पर अलाउद्दीन अपना विश्वासपात्र सुयोग्य तथा अनुभवी व्यक्ति ही नियुक्त करता था। ये पद उसने वंशानुगत नहीं किये और न उन पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार था। मंत्रियों की नियुक्ति और कार्यकाल सुल्तान की इच्छा पर निर्भर करता था। मंत्री पूर्ण रूप से सुल्तान के प्रति ही उत्तरदायी होते थे। आवश्यकता पड़ने पर मंत्रियो को शासन सम्बन्धी कार्यों के साथ–साथ सुल्तान के आदेशानुसार सैनिक कार्यों को भी सम्पन्न करना पड़ता था। मंत्रियों के प्रमुख विभाग तथा वरिष्ठतम् अधिकारीगण निम्नलिखित थे–

दीवान–ए–बिजारतः सुल्तान के वजीर अथवा प्रधानमंत्री के विभाग को दीवन–ए–विजारत कहते थे। सल्तनत में वजीर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था। वजीर सुल्तान को विभिन्न कार्यों का परामर्श देता था। वह राजस्व विभाग का अध्यक्ष भी होता था तथा उसे अन्य मंत्रियों एवं पदाधिकारियों के विभागों का निरीक्षण करने का अधिकार भी प्राप्त था। उसका मुख्य कार्य खालसा भूमि से राजस्व और अधीनस्थ शासकों से कर

वसूली करना, प्रान्तपतियों के बही–खातों का निरीक्षण करना और प्रान्तों से बचत का राजस्व वसूल करना था। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के समय वह सेनापति का भी कार्य करता था।

दीवान–ए–ईशा शासन सम्बन्धी पत्र व्यवहार इस विभाग के द्वारा किया जाता था। इस विभाग का प्रधान दवीर–ए–खास होता था। इसके अतिरिक्त इस विभाग में दबीर–ए–मुमलिकात, साहिब–ए–ईशा आदि आधिकारी गण होते थे।

दीवान–ए–कजा यह विभाग साधारण झगड़ों का निर्णय देता था। काजी –ए–मुमलिक इस विभाग का अध्यक्ष होता था। दीवान–ए–कजा अन्य धार्मिक बातों का प्रबन्ध करता था।

दीवान–ए–रसालत यह विभाग आधुनिक विदेश मंत्रालय की तरह होता था। इस विभाग के द्वारा पड़ोसी दरबारों को भेजे जाने वाले पत्रों का प्रारूप तैयार किया जाता था तथा विदेशों के राजदूत का स्वागत किया जाता था। विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना भी इस विभाग की जिम्मेदारी थी। दीवान–ए–रसालत इस विभाग का अध्यक्ष होता था।

दीवान–ए–रियासत अलाउद्दीन ने अपने शासनकाल में एक कठोर बाजार नियंत्रण की नीति का पालन किया। इस नीति का व्यवहारिक रूप देने में तथा बाजार सम्बन्धी नियमों को अच्छे ढंग से संचालित करने में इस विभाग का बहुत ही महत्वपूर्ण सहयोग था। बाजार नियंत्रण सम्बन्धी कार्यों की देख–भाल, मूल्य–निर्धारण आदि के कार्य इसी विभाग के द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। इस विभाग के अध्यक्ष के अतिरिक्त शहना–ए–मण्डी, वरीद, मुनाहियान आदि अधिकारीगण होते थे[29]।

अन्य पदाधिकारीगणः उपर्युक्त विभागों के मंत्रियों और अधिकारीगणों के अतिरिक्त केन्द्र में अनेक महत्वपूर्ण अधिकारी होते थे जो अन्य दूसरे विभागों की देख–भाल करते थे। इन अधिकारीगणों पर सुल्तान का कड़ा नियंत्रण रहता था और वह इनके विभागों का स्वयं निरीक्षण करता था। ऐसे अधिकारियों में उल्लेखनीय थे– वकील–ए–दर (महल के द्वारों की कुंजियों का रक्षक), नायब वकील–ए–दर, अमीर–ए–हाजिब (उत्सव अधिकारी), सर जादार (सुल्तान के अंगरक्षकों का अधिकारी), अमीर–ए–आखूर(अश्वाधिपति), अमीर–ए–शिकार(शाही आखेट का अधीक्षक), शहना–ए–पीला(हाथियों का अधिकारी), सर–सिलाह–दार(शाही अस्त्ररक्षक), मुहरदार (शाही मुद्रा रक्षक), शराबदार(सुल्तान के पदों का प्रभारी), सर चाशनीगार (शाही बावर्ची खाने का प्रभारी) आदि।

अलाउद्दीन खिलजी द्वारा सैनिक सुधार

मध्ययुग 'शक्ति' का युग था और अलाउद्दीन जैसे सुल्तान ने इस सिद्धान्त की कीमत को भली प्रकार समझ लिया था कि ''राजत्व दो स्तम्भों पर आधारित है– प्रशासन और विजय, तथा दोनों स्तम्भों का आधार है सेना यदि शासक सेना के प्रति उदासीन रहता है तो वह अपने ही हाथों अपने राज्य का विनाश कर लेगा।'' अलाउद्दीन ने, जो निरंकुश सत्ता कायम रखने और साम्राज्य का विस्तार करने का उत्कट अभिलाषी था, एक नियमित विशाल सेना संगठित की, उसे भली प्रकार सुसज्जित किया और सैनिक प्रशासन के पुनर्गठन की ओर पूरा ध्यान दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन बहुत कुछ अपनी सैनिक उपलब्धियों के कारण ही महानतम् सुल्तान माना जाता है। अलाउद्दीन ने ही पहली बार उप महाद्वीप के सुदूर दक्षिण में प्रवेश कर जाने और अपने नियंत्रण में लेने में

सफलता प्राप्त की। उसने किलों, सैनिक चौकियों, शस्त्रास्त्रों के निर्माण आदि के महत्व को भलीभांति समझ लिया था। उसके सैनिक पुनर्गठन पर सारभूत प्रकाश डालते हुए लेफ्टि. कर्नल गौतम शर्मा ने लिखा है कि[30]– ''उसने (अलाउद्दीन) नये सैनिक सुधार भी लागू किये। यह श्रेय भी उसी को है कि वह दिल्ली का पहला (सुल्तान) मुसलमान सम्राट था, जिसने शाही राजधानी में हर समय तैयार रहने वाली एक विशाल स्थायी सेना का संगठन किया। 'आरिजे–ममालिक' सेना–विभाग और उससे सम्बन्धित सभी मामलों के लिए जिम्मेदार बना रहा। सैनिक चार स्पष्ट वर्गों में विभक्त किए गये– राज्य की नौकरी में नियुक्त नियमित सैनिक, प्रान्तीय सूबेदारों के नियमित सैनिक, अभियानों के लिए अस्थायी सैनिक और सिर्फ जिहाद के लिए भर्ती मुसलमान स्वयंसेवक।

इस विशाल स्थायी सेना के अंग थे– घुड़सवार, पैदल और हाथी। सिर्फ घुड़सवार ही लगभग 4,75,000 थे और यह एक सुसज्जित और सुदृढत्र सेना थी। अलाउद्दीन जब–तब निरीक्षण करता था और घोड़ों तथा शस्त्रास्त्रों को निरखा–परखा जाता था। उसने नये सुधारों को कठोरता से लागू किया। वह इस बात का ध्यान रखता था कि उसकी योजनाएं और उसके आदेशों का पूरी स्वामिभक्ति के साथ अनुपालन हो। यह सैनिको को भूमि देने के पक्ष में नहीं था। फिर भी कितने ही पुराने जागीरदार अपनी मुफ्त जमीनों के मालिक बने रहे। आर्थिक क्षेत्र में उसने ध्यान रखा कि सैनिक के जीवन के लिए आवश्क सभी चीजें काफी सस्ती हो जाएं। शस्त्र और साज समान कुशल कारीगरों की देखरेख में निर्मित होते थे और उन्हें बहुत अच्छी अवस्था में रखा जाता था। घोड़ों पर भी नियम पूर्वक संस्थाऐं आदि डाली जाती थीं जिससे परेड के समय उनकी

उचित जांच हो सके। एक घोड़ा रखने वाले सैनिक का वेतन 234 टका वार्षिक निश्चित किया गया था और यह पहले से बहुत अच्छा था। दो घोड़े रखने वाले व्यक्ति को 78 टके अतिरिक्त दिये जाते थे। यह भुगतान नकद दिया जाता था। एक सिपाही के लिए यह अधिक नहीं था। उसकी सहायता के लिए अलाउद्दीन ने आर्थिक सुधार लागू किये थे। युद्धतन्त्र को अविराम सतर्कता और कठोर अनुशासन द्वारा पूर्णता तक पहुँचा देने के बाद अलाउद्दीन ने कितने ही युद्ध किये[31]।

अलाउद्दीन के सैनिको का वेतन यद्यपि पर्याप्त कम था, तथापि उसने अपनी सेना को संतुष्ट रखने में यथासम्भव ढील नहीं आने दी। मलिक काफूर के वारंगल अभियान के समय सुल्तान ने जो अनुदेश दिये उनसे पता चलता है कि वह सैनिकों के कल्याण में कितनी रुचि लेता था। सैनिक अभियान से लौटने पर वह विजयी सेनानायकों और सैनिकों को पुरस्कृत करता था। पर चूंकि इतनी विशाल सेना को ऊँचा वेतन देना सम्भव न था और सैनिकों को निर्वाह के लिए भूमि देने के वह विरुद्ध था, अतः उसने आर्थिक सुधार लागू कर जीवन यापन की आवश्यक वस्तुओं को सस्ता किया, बाजार को नियंत्रित किया तथा और भी अनेक सुधार किये और इन सबके फलस्वरूप सैनिकों को कम वेतन विशेष खटका नहीं। अलाउद्दीन के लिए सेना का पूरा ध्यान देना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति और राज्य की प्रतिरक्षा सेना पर ही निर्भर थी[32]।

शक्ति, सत्ता व राजस्व के सम्बन्ध में अलाउद्दीन सफल हुआ। उसने मानवीय भावनाओं की उपेक्षा कर गद्दी प्राप्त की थी। उनकी पहली

समस्या थी राज्य को हड़पने के इस कृत्य का औचित्य जनता की दृष्टि में स्थापित करना और वह स्नेह और स्वामिभक्ति प्राप्त करना जो किसी भी शासन की सफलता के प्रमुख तत्व थे। ऐकीकरण, ठोस प्रशासन, दृढ़ सुरक्षा और स्वतंत्र राज्यों को जीतना उसकी नीति के प्रमुख आधार थे। जलालुद्दीन के पुत्र अभी जीवित थे और उनके खतरे से बचने के लिए उन्हें समाप्त करना आवश्यक था। ऐसे अमीर वर्ग से निपटना था जो सिंहासन के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के अभ्यस्त थे। उसे मंगोलों के विरुद्ध भी सीमा की सुरक्षा की समस्या को सुलझाना था। स्थानीय व केन्द्रीय शासन में सुधारो की आवश्यकता थी और एक ऐसी प्रशासनिक एकता प्रदान करने में वह सफल हुआ जो मध्ययुगीन यातायात और परिवहन के उपलब्ध साधनों के अन्तर्गत हो सकती थी। यद्यपि वह जघन्य हत्या के सहारे गद्दी पर आया था तथापि वह एक वीर, सावधान, साहसी, कठोर और सफल नियोजक व संगठनकर्ता सिद्ध हुआ।

अलाउद्दीन के समकालीन अमीर खुसरो और उसके परवर्ती इसामी दोनो ने अलाउद्दीन को ''एक भाग्यशाली व्यक्ति'' कहा। राजपूतों के विरुद्ध सफल अभियान ले जाने में अलाउद्दीन खिलजी को जो सफलता मिली वैसी सफलता उसके पूर्ववर्ती किसी भी सुल्तान को नहीं मिली थी। उसके समय में मंगोल समस्या भी कम भयानक नहीं थी तथापि अलाउद्दीन खिलजी ने बड़ी निडरतापूर्वक राजपूतों पर आक्रमण किया और उन्हें अधीनता स्वीकार करने या जौहर करने को विवश किया। वास्तव में अलाउद्दीन खिलजी के ही शासनकाल में दिल्ली सल्तनत के अजेय विजय अभियानों का सिलसिला प्रारम्भ होकर पूर्णत्व को प्राप्त करता है। उसने राजपूतों को परास्त करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सब प्रकार

की नीतियों का प्रयोग किया। उसकी दूरदर्शी राजपूत नीति ने समस्त भारत में उसकी विजय का डंका बजा दिया।

सन्दर्भ सूची

1. रामधारी सिंह, दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, दिल्ली, 1956, पृ0 236
2. वी0डी0 महाजन, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1963, पृ0 5
3. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 2
4. प्रो0 मो0 हबीब, दिल्ली सल्तनत, पृ0 4
5. डॉ0 नीना शुक्ला, दिल्ली सल्तनत, पृ0 19
6. डॉ0 निर्मला शुक्ला, दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति, पृ0 4
7. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1983, पृ0 3
8. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 3
9. के0एम0 पणिक्कर, स्टडीज इन इण्डिया हिस्ट्री, 1993, पृ0 20
10. ताराचन्द्र, इन्फलुएन्स आव इस्लाम आन इण्डिया कल्चर, पृ0 33–34
11. लईक अहमद, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 5
12. ए0बी0एम0 हबीबुल्लाह, फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, इलाहाबाद, 1961, पृ0 02
13. जे0एल0 मेहता, मध्यकालीन भारत का बृहद् इतिहास, खण्ड–3, नई दिल्ली, 2001, पृ0 06
14. डॉ0 के0एल0 खुराना, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1999, पृ0 239
15. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, नई दिल्ली, 2000, पृ0 388

16. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 201–202
17. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 45
18. एल0पी0 शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, 2000, पृ0 96
19. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 80
20. वही, पृ0 104
21. बरनी, पृ0 335–336
22. के0एस0 लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 268
23. बरनी, पृ0 338
24. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 104
25. के0एस0 लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 275
26. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 105
27. वही, पृ0 106
28. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, जयपुर, 1975, पृ0 167
29. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ0 113
30. कर्नल गौतम, भारतीय सेना और युद्ध कला, पृ0 58–60
31. वही, पृ0 58
32. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, जयपुर, 1975, पृ0 167

****

द्वितीय अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी के समय राजपूतों की दशा

द्वितीय अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी के समय राजपूतों की दशा

राजपूत अत्यन्त गौरवयुक्त थे। वे उज्ज्वल वंश–परम्परा के निर्माता हैं। वीरता की भावना ने उन्हें कठिनाइयों के समय साहस–युक्त कार्यों के लिए प्रेरित किया था। कुछ राजपूत शत्रु–राजा को आश्रय भी प्रदान करते थे। टाड (Tod) के अनुसार, ''प्रशंसा–योग्य उत्साह, देश–भक्ति, स्वामिभक्ति, सम्मान, आतिथ्य–सत्कार और सरलता के गुण तो उनमें बिना सोच–विचार के स्वीकार करने होंगे।'' वे वीरों का आदर करना जानते थे। शत्रुओं को भी निःशस्त्र हत्या करना ठीक नहीं समझते थे, चाहे वह हार क्यों न जायं। निर्धन व्यक्तियों और स्त्रियों का सम्मान करना वे जानते थे। विदेशी आक्रमणकारियों का वे डटकर मुकाबला करते थे और अपना सर्वस्व निछावर करने को तत्पर रहते थे[1]।

राजपूतों का जीवन युद्ध में ही व्यतीत होता था। युवावस्था होने पर भी 'बन्दई' संस्कार के द्वारा तलवार बांधकर व्यक्ति सरदार बन जाता था। रामायण और महाभारत का प्रभाव उनके जीवन पर व्यापक रूप से था। राजपूतों का जीवन शिकार, नृत्योत्सव आदि में व्यतीत होता था। अपने साथियों के साथ 'कुसुम्ब' (अफीम का पानी) पीते थे। राजपूतों को युद्ध से अपार प्रेम था। युद्ध की पिछली रात में महाभारत की कथा सुनते थे और प्रातःकाल युद्ध की प्रतीक्षा करते थे, जिस प्रकार विरहणी स्त्री अपने पति की प्रतीक्षा करती है। दूसरे देशों पर आक्रमण करने में वे हिचकिचाते नहीं थे। उनको अपनी जाति पर अपार गर्व था

तथा वे अपने सम्मान को सदैव उच्चता प्रदान करते थे। राजपूतों में अनेक गुण थे, परन्तु कालान्तर में वे घमण्डी शासक बन गये। शक्तिशाली होते हुए भी वे अपनी व अपने देश की रक्षा में समर्थ न हो सके। जाति की निष्ठा राष्ट्रीय हितों में बाधक सिद्ध हुई। आपस में ईर्ष्या, कलह में वे अपना समय व्यतीत करने लगे। मुस्लिम शासकों ने उन्हें परास्त किया। इसका बहुत बड़ा कारण उनकी आपसी फूट व कलह थी[2]।

राजनीतिक दशा

देश में विभिन्न सत्ताओं के स्थापित होने के साथ अलग–राज्यो का निर्माण हुआ। कन्नौज में प्रतिहार तथा गहड़वाल, बघेलखण्ड में कलचुरि वंश, गुजरात में चालुक्य, बुन्देलखण्ड में चन्देल, अजमेर और दिल्ली में चौहान, मालवा में परमार, बंगाल में पाल तथा सेन, काश्मीर में करकोटक तथा उत्तर–दक्षिण में बदामी के चालुक्य, कलिंग में केशरी, राष्ट्रकूट तथा देवगिरि में यादव, महाराष्ट्र में मान्यकूट वंश शासनसूत्र संभाले हुए थे। ये महाराजे आपस में लड़–भिड़कर व्यर्थ की शक्ति को नष्ट करते थे। राजनीतिक सतर्कता के अभाव में मुसलमानों के आक्रमण को भी रोकनें में ये राजपूत–शासक असमर्थ रहे[3]।

राजपूतों की राजनीतिक स्थिति उनकी सैनिक शक्ति पर निर्भर थी। यद्यपि राजपूती समाज की यूरोपीय सामंतवाद से काफी समानता थी तथापि यह समानता केवल ऊपरी सतह तक थी। मूल रूप से दोनों में आधारभूत भिन्नता थी। ऐसी स्थिति में इसे 'आर्य–सामन्तवाद' कहना

उचित जान पड़ता है। इस समाज में मुख्य स्थान उन सरदारों का था जो अपनी सेनाओं की सहायता से भूमि के बड़े हिस्सों पर अपना अधिकार जमाकर रखते थे और प्रशासन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। सामन्तवादी शासन व्यवस्था में भू–स्वामियों का मुख्य अधिकार था। वे पूरी चेष्टा करते थे कि कोई भी बाहरी आदमी इस व्यवस्था में शामिल न हो सके। इस प्रकार कृषिदासता और भू–व्यवस्था सामान्ती व्यवस्था के मुख्य आधार थे। इस प्रकार की व्यवस्था 600–1000 ई0 में भारत में विशेष रूप से विद्यमान थी। यहां सबसे मुख्य बात थी कि राजा द्वारा ब्राह्मणों को जमीन देना (*Land grants*)। प्रो0 राम शरण शर्मा ने अपनी पुस्तक भारतीय सामन्तवाद (*Indian Feudalism*) में इसी व्यवस्था का तार्किक संकेत दिया है। मौका पाकर इन स्थितियों ने मिलकर मध्यस्थ वर्ग को दृढ़ किया जिसने आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को संभालना शुरू किया। इसके परिणामस्वरूप सारी क्षमता (जो केन्द्रीय नियंत्रण पर आधारित थी) अब धीरे–धीरे विकेन्द्रित होने लगी। वंश के योद्धाओं को तथा सरदारों और रिश्तेदारों को जमीन देने की प्रथा से भी सामंतवाद को बढ़ावा मिला। इसके अतिरिक्त छोटे और बड़े सामंतों को जमीन देने की प्रथा ने भी इस वर्ग को स्वतंत्र होने के लिए बाध्य कर दिया। सामन्तवादी व्यवस्था के दृढ़ होते जाने का एक बड़ा कारण था कि विदेशी हमले, जिनके कारण केन्द्रीय शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा। धीरे–धीरे राजसत्ता दुर्बल हो गई और उनके स्थान पर सामंतवादी प्रवृत्तियों से ग्रस्त अधिकारियों ने शक्ति प्राप्त कर ली। ध्यान से देखने

पर पता चलता है कि गुप्तकाल के बाद लगातार राजनैतिक गड़बड़ी का काल चलता रहा और इससे आर्थिक ह्रास ही अधिक हुआ[4]।

सामंतवादी व्यवस्था का एक अन्य पहलू भी है जो इस बात को महत्व देता है कि गुप्त वंश के बाद गॉव आत्मनिर्भर हो गये। व्यापार की अवनति के कारण एक सामान्य कृषि अर्थव्यवस्था की स्थापना हुई। कृषि से सीधा सम्पर्क हुआ। इस विकास को डी0डी0 कोसांबी ने 'ऊपर से उत्पन्न सामंतवाद' का नाम दिया है। इस विचार के अनुसार समय के साथ–साथ राज्य और किसानों के बीच गॉव में जमीन वाला वर्ग विकसित हुआ जिसने सैनिक शक्ति भी प्राप्त की। इसी क्रिया को 'नीचे से उत्पन्न सामंतवाद' कहा गया है। एक विशिष्ट दृष्किोण से सामंतवाद की जब चर्चा होती है, तब इसके जरूरी तथ्य प्रकाश में आने लगते हैं– जैसे, आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था (*Sulf-sufficient economy*), व्यवसाय एवं विनिमय की कमी (*lack of commercial intercourse*), जमीन वाले मध्यस्थ वर्ग का बढ़ना (*rise of landed interediaries*), पराधीन किसान वर्ग (*subject peasantry*) इत्यादि। यह ध्यान देने की बात है कि राज्य की सुरक्षा सामंतवादी सरकारों पर निर्भर थी। किसी न किसी रूप में राजपूतों की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था 'कुल पद्धति' पर आधारित थी। कुल एकता और वंशानुगत गर्व सामाजिक जीवन की मुख्य धाराएं थी।

राजपूतों की प्रमुख विशेषता अपनी भूमि, परिवार और अपने मान सम्मान के साथ लगाव था। संक्षेप में, राजपूती सामंतवाद की ये ही

प्रधान विशेषताएं थीं। राजपूतों के दृष्टिकोण में क्षेत्रीयता व्याप्त थी। उनमें भाई चारे और समानता की भावना न थी। उनकी कुलीन व्यवस्था का प्रभाव सैनिक व्यवस्था पर पड़ा। ये ही वे प्रधान कारण रहे हैं जिनकी वजह से राजपूत स्थाई सेना की शक्ति का ठीक से कभी भी गठन न कर सके। जब तुर्क भारत आये तो सामंतवाद अपने अत्यधिक असफल रूप में सामने आया। यहां उप–सामंतवाद (*Subinfeudation*) की प्रवृत्तियों ने भी स्थान धारण कर लिया था। राजपूत–राजनीति की मुख्य धाराएं इस प्रकार थीं कि सभी गतिविधियों का केन्द्र सम्राट था। राजा की प्रथा वंशानुगत थी। ''भारतीय जनता और भारतीय शास्त्रकार राजा को ईश्वर का अंश मानते थे और उनका यह निश्चित मत था कि अभिषेक की धार्मिक क्रियाओं द्वारा नरत्व में देवत्व प्रस्फुटित हो जाता है।''

राजपूतों में उत्तराधिकारियों के चुनाव का निश्चित नियम था। अगर कोई राजकुमार अपने पिता के सामने ही वयस्क हो जाए, तो वह पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी माना जाता था। ''यदि कोई राजा निःसंतान मर जाता था तो वंश–परिपाटी के अनुसार सामंतों मे से जो परिवार राजकुल से निकटता का संबंध रखता था, उसी का प्रधान व्यक्ति राजा चुन लिया जाता था। अस्तु, राजपूत शासन–व्यवस्था में साधारणतः उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा होने का अधिक अवसर नहीं रहता था[5]।''

भारत में तुर्क आक्रमणकारी

पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) का प्रारम्भिक काल देश की राजनैतिक उथल–पुथल का काल था। भारत के उत्तर पश्चिम की ओर से मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में मुसलमानों का दबाव बढ़ता जा रहा था और भारत में एक सफल केन्द्रीय सत्ता का सर्वथा अभाव था। समूचे देश में विविध हिन्दू राजवंशों तथा कुछ प्रदेशों पर मुस्लिम राजवंशो का शासन था और ये सभी आपसी संघर्ष में डूबे हुए थे। उत्तरी भारत में चौहानों के बाद दूसरा शक्तिशाली राज्य गहड़वाल राठौरों का कन्नौज था। वहाँ का शासक जयचन्द चौहानों का प्रतिस्पर्धी था। गुजरात में चौहानों के परम्परागत शत्रु चालुक्यों का शासन था और दक्षिण भारत भी अनेक राज्यो में विभाजित था। अधिकांश राजपूत शासक हठीले तथा गर्वशील थे और देश की सुरक्षा के लिए संयुक्त संगठन बना कर शत्रु से मोर्चा लेने की बात उनकी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर भी क्योंकि वे आपस में अपने में से किसी एक का नेतृत्व स्वीकार करने की दशा में नही थे[6]। मुहम्मद गोरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक के बाद मुख्य सत्ता इल्तुतमिश के हाथो में केन्द्रित हो गयी।

दिल्ली के तुर्क सुल्तानों को अपनी सत्ता के लिए सबसे बड़ा खतरा राजपूतों से ही था। अतः अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों से मुक्त होते ही इल्तुतमिश ने राजपूतों के विरुद्ध दृढ़ और आक्रमणकारी नीति अपनाने का निश्चय किया और तद्नुसार 1226 ई0 में उसने सर्वप्रथम रणथम्भौर पर आक्रमण किया। राजपूतों ने उसका जबरदस्त विरोध

किया परन्तु वे परास्त हुए और रणथम्भौर पर इल्तुतमिश का अधिकार हो गया। इसके बाद इल्तुतमिश ने मारवाड़ की राजधानी मडौर पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया। इल्तुतमिश से लेकर जलालुद्दीन खिलजी के शासन काल तक दिल्ली सल्तनत और राजपूत राज्यों के सम्बन्ध तनावपूर्ण बने रहे और दोनो पक्षो में निरन्तर संघर्ष होता रहा जिसमे दोनो पक्षों को कभी सफलता और कभी असफलता का समाना करना पड़ा। अलाउद्दीन खिलजी के समय राजपूतों की दशा कुछ अलग ही थी। उसने निर्णायक रूप से राजपूतों को पराजित किया और राजपूतानों के अधिकांश भाग पर तुर्क शासन स्थापित करने में सफल रहा। 1299 ई0 के अन्त में अलाउद्दीन खिलजी ने उलुग खाँ की सेना द्वारा रणथम्भौर के राजपूत राजा पर विजय प्राप्त की। किन्तु पूर्ण रूप से 11 जुलाई 1301 के दिन ही अलाउद्दीन का रणथम्भौर पर अधिकार हो सका। इसी तरह उसने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के अन्य राजपूतों पर विजय प्राप्त कर उनको अपने शासन में मिलाने पर सफलता प्राप्त की। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य निकले जिससे राजपूतों राज्यों ने अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर लिया और वे पहले की भांति दिल्ली सल्तनत के लिए गम्भीर खतरे के कारण बने[7]।

समाज में राजपूतों का स्थान

तुर्क आक्रमणों के समय भारत की सामाजिक दशा बहुत अच्छी नहीं थी। यदि कोई समाज अपनी जीवन शक्ति खो बैठता है तथा

व्यापक दुर्बलताओं का शिकार हो तो किसी भी विदेशी सत्ता के लिए उस समाज पर प्रभुत्व जमा लेना कोई आश्चर्य की बात नही होती। जब जब तुर्कों का आक्रमण राजपूत राज्यों पर हुआ तब तब राजपूती समाज पारस्परिक फूट, वैमनस्य, ऊँच–नीच की भावना, छुआछूत और विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का शिकार था।

समाज की रक्षा का भार राजपूतों पर ही होता था किन्तु सामाजिक वैमनस्य के कारण राजपूत आपस में एक नहीं थे। जब राजपूतों को मुसलमानों का सामना करना पड़ा तो उनमें संगठन का सर्वथा आभाव पाया गया और वीर राजपूतों की तलवार भारत के सम्मान की रक्षा नहीं कर सकी। वंश की झूठी मर्यादा में विश्वास करने वाले सामन्त संगठित नही हो सके।

जाति व्यवस्था और छुआछूत की जड़ें भारतीय समाज में इतनी गहरी हो चुकीं थी कि हिन्दू जनता का एक बड़ा भाग अपनी सामाजिक स्थिति से संतुष्ट नहीं था। हिन्दुओं के बहुसंख्यक वर्ग में राजपूतों नरेशों के राज्यों के प्रति कोई लगाव नही रह गया था। डॉ0 के0ए0 निजामी ने भी इस धारण की पुष्टि की है कि, ''जाति व्यवस्था ने राजपूत राज्यों की सैनिक शक्ति को दुर्बल बना दिया था और भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण यही था कि अन्यायपूर्ण जाति भेदों में भारतीय राजपूत समाज को खोखला बना दिया था।

तुर्क आक्रमण के समय वर्ण व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी थी। अल बरुनी हमें सूचित करता है कि केवल ब्राह्मण को मोक्ष

प्राप्त करने का अधिकार था। उच्च स्थान प्राप्त होने के अलावा ब्राह्मण को कर का भुगतान नहीं करना पड़ता था। परन्तु डॉ0 घोषाल और डॉ0 अल्तेकर ने अलबरूनी के बताए हुए आधार पर यह स्पष्ट किया है कि न तो महाभारत से, न ही नारद स्मृति और न दक्षिण भारत खुदाई से यह जानकारी प्राप्त होती है कि बाह्मण के सभी वर्ग कर देने में स्वतंत्र हैं[8]।

राजपूत काल की सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गयी थी। समाज में चार वर्णों के स्थान पर अनेक उपजातियां हो गई थी। समाज प्रधानतया दो वर्गों में विभाजित था।

1– उच्च वर्ग जिसके अन्तर्गत राजपूत तथा ब्राह्मणों का वर्ग आता था।

2– निम्न वर्ग के अन्तर्गत जन–साधारण आदि थे। अपने–अपने व्यवसायियों के आधार पर जातियों के अलग–अलग नाम दिये गये थे। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी अपने को विशुद्ध रक्त का मानते थे। इन कुलीन वंशों के कारण राजपूतों ने विशेष अधिकार प्राप्त कर लिए थे[9]।

भारत में जाति–व्यवस्था ने समाज को खोखला और आधारहीन बना दिया था। छुआछूत की भावना के कारण समाज की दशा और भी सोचनीय हो गयी। अलबरूनी के अनुसार अगर कोई हिन्दू, मुसलमानों का कैदी बन जाता था, तो हिन्दू समाज उसे वापस नहीं लेता था। हिन्दू नहीं चाहते थे कि किसी अपवित्र को फिर से पवित्र किया जाए।

एक तरह से जाति व्यवस्था ने भाईचारे और एकता की भावना समाप्त कर दी थी। इनके विरूद्ध मुसलमानों में जातिगत एकता थी जिसके द्वारा तुर्क शासकों ने राजपूतों की जाति व्यवस्था को कठोर आघात पहुंचाया। जाति व्यवस्था के कारण तुर्कों को युद्धों में सफलता मिली। व्यक्तिगत और जातिगत दृष्टिकोण के आधार पर वर्णव्यवस्था दयनीय थी। वर्णव्यवस्था के बुरे प्रभाव पर विचार करते हुए बेनी प्रसाद ने लिखा है, ''वर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहन देने से व्यक्तिगत मूल्यों का ह्रास होता है। यह व्यक्तित्व पर आक्रमण करता है और निम्न वर्ग का अस्तित्व समाप्त सा हो जाता है। यह स्वतंत्र अभिव्यक्ति को समाप्त कर देता है। वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त मनुष्य के प्रति मनुष्य की घृणा को दर्शाता है[10]।''

इन गुणों के साथ ही राजपूतों में ईर्ष्या–द्वेष भी कम न था। ईर्ष्या–द्वेष आदि के कारण ही राजपूत आपस में लड़ते रहे ओर विदेशी आक्रमणकारियों को अलग–अलग राजाओं ने हराने का प्रयत्न किया। यदि ये संगठित रूप से विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करते तो विदेशियों के पैर आसानी से भारत में न जमते। युद्ध के बाद ही राजपूत रास–रंग आदि में डूब जाते थे। राजपूत सभाएं विकास का केन्द्र थीं। राजपूत राजा एक ओर विद्वानों को आश्रय देते थे और दूसरी ओर नर्तकियों को[11]।

खानपान

खान–पान में मांस का प्रयोग नहीं होता था। भोजन शुद्ध होता था। उच्च वर्ग में मदिरा का प्रचलन अधिक था। लोग पान का प्रयोग करते थे। अफीम का प्रयोग भी राजपूत करते थे[12]। अधिकांश लोग शाकाहारी थे किन्तु कुछ विशेष अवसरों पर लोग मांस भी खाते थे। लोग मोर, घोड़े, मुर्गे तथा जंगली सुअर का मांस खाया करते थे। उस समय लोग गेहूं का कम प्रयोग करते थे। संभवतः चावल, जौ, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि प्रमुख खाद्य आनाज थे। लोग मांस तथा अफीम का प्रयोग नशीले पदार्थों के रूप में करते थे। दूध, घी, फल, सब्जियों को पौष्टिक भोजन का अनिवार्य अंग माना जाता था[13]।

वस्त्र तथा आभूषण

इस काल में लोग सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र पहनते थे। पुरूष धोती, कमीज, पगड़ी और जैकेट पहनते थे। स्त्रियां साड़ी, लहंगा, चुदरी आदि वस्त्र पहनती थी। चीनी लेखक चाउ जक्वा के अनुसार, ''गुजरात में लोग ढीले–ढाले कपड़े पहनते थे तथा पांव में लाल रंग के जूते पहनते थे।'' मार्कोपोलो के अनुसार मालाबार में औरतें तथा पुरूष कमर में कपड़ा बांधते थे। स्त्रियों और पुरूषों में कई प्रकार के आभूषण पहनने का शौक था[14]।

मनोरंजन

इस काल में अनेक साधनों से राजपूत मनोरंजन करते थे। राजपरिवारों तथा अन्य वर्गों के पुरूष के लिए चौगान, शतरंज, नौकाविहार, शिकार तथा जुआ एवं दावतें देना एवं लेना मनोरंजन का साधन था। गॉव एवं शहरों में सर्व साधरण मेलों एवं त्योहारों से मनोरंजन करते थे। राजपूत लोग दंगल, तैराकी, तलवारबाजी, जानवरों की लड़ाई तथा घुड़दौड़ एवं रथदौड़ से भी मनोरंजन करते थे। प्रायः स्त्रियां पासा खेलकर, बागों में घूमकर, चित्रकारी, संगीत, नृत्य, झूलों पर झूलकर, त्योहारों एवं मेलों में भाग लेकर मनोरंजन करती थी।

शिक्षा

समाज में शिक्षा कुछ ही लोगों तक सीमित थी। जिसमें ज्यादातर ब्राह्मण तथा उच्च वर्ग के लोग हुआ करते थे। गॉव में प्रायः मन्दिर या चौपालों में ब्राह्मण ही शिक्षा देने का कार्य किया करते थे। उन्हें भूमि अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता था। उच्च शिक्षा के लिए लोगों को गुरू आश्रमों में जाना पड़ता था। शिष्य या तो शिक्षा पूरी हो जाने पर गुरू दक्षिणा देते थे या आरम्भ में ही उनको अनेक उपहार एवं भेंट दे दी जाती थी। प्रायः भाषा, गणित, व्याकरण, वेदों की शिक्षा दी जाती थी। विज्ञान तथा इंजीनियरिंग की शिक्षा की पूर्णतया उपेक्षा की जाती थी। उत्तर में कश्मीर शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहां पर शैव तथा अन्य मतावलम्बियों के उच्च शिक्षा केन्द्र थे। कुछ बौद्ध बिहार शिक्षा के लिए अब भी बहुत प्रसिद्ध थे जैसे– नालन्दा, बिक्रमशिला और उदन्तपुर, इन

स्थानों पर विदेशों से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। राजा इन्हें कई गॉव दान में देते थे। यहां राजा की ओर से विद्यार्थियों को शिक्षा तथा खाना निःशुल्क दिया जाता था। दक्षिण में मदुरई तथा श्रृंगेरीदर्शन शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र थे। साधारण लोग ज्ञान के आदान–प्रदान से कतराते थे[15]।

राजपूतों की आर्थिक दशा

राजपूत काल में मुख्यतः लोग कृषि करते थे। सिंचाई के साधनों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। कुएँ, तालाब, बांध आदि राज्य की ओर से निर्मित किये गये थे। दुर्भिक्ष, अकाल, अनावृष्टि आदि में शासक जनता की सहायता करते थे। व्यापार की भी पर्याप्त उन्नति हुई थी। धातु के काम, कपड़ा, बुनाई, स्पात और लोहे के उद्योग विशेष रूप से पनपे। बड़ी–बड़ी सड़कों के बनने से इस ओर और भी मदद मिली। इस काल की आर्थिक सफलता के कारण ही आक्रमणकारी भारत की ओर आकृष्ट हुए[16]।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि को प्रधानता दी गयी थी। अधिकांश जनता गॉवों में रहती थी और कृषि द्वारा अपनी अजीविका अर्जित करती थी। भूमिदान तथा नई जमीन को कृषि योग्य बनाने की प्रक्रिया पूर्ववत चलती रही। चावल, जौ, फल, रूई, कपास, गेंहू, दालें तिल आदि प्रमुख फसलें थी। रहट तथा तालाब से अधिकांश सिंचाई की जाती थी।

इस समय में अनेक उद्योग धन्धे विकसित थे। उद्योगों का आयोजन श्रेणियों द्वारा होता था। देश में वस्त्र–उद्योग अनेक स्थानों में प्रगति पर था। सूती वस्त्र मुख्यतः गुजरात, मुल्तान, कलिंग, बंग तथा मालवा में बनाया जाता था। पंजाब तथा कश्मीर ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। लौह उद्योग इस काल में पर्याप्त प्रगति पर था। लौह के स्तम्भ, हथियार, घरेलू वस्तुएं आदि के निर्माण की विकसित तकनीक का भारतीयों को ज्ञान था। धार का लौह स्तम्भ सुप्रसिद्ध है। इस काल में नमक साधारण विधि से बनाया जाता था। नमक वाली मिट्टी को पानी में डाल दिया जाता था। उसे निथार कर अलग किया जाता था। पानी को भाप बनाकर उड़ा दिया जाता था और नमक नीचे बैठ जाता था। पत्थर पर उत्कीर्ण उच्च कोटि की कलाकृतियां, विशेषकर मन्दिरों के लिए, सारे भारत में तैयार की जाती थी। इसी काल में पत्थर के साथ–साथ अनेक धातुओं से मूर्तियां बनायी जाती थी। इस काल में विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन, खिलौने तथा मूर्तियां बनायी जाती थीं। अनेक भागों से सोने–चांदी तथा मोहक आभूषणों के साथ–साथ रत्नों की जड़ायी का काम होता था[17]।

धर्म के प्रति दृष्टिकोण

धर्म में अद्‌भुत प्रेरणा होती है और धर्म के नाम पर ही मुस्लिम आक्रान्ताओं ने अपनी जन्मभूमि से दूर विदेशों में मुस्लिम पताका फहराने और इस्लाम के प्रचार के लिए जोखिम भरे अभियान किये। जो धर्म लोगों में जीवन शक्ति का संचार करता है उसी धर्म ने राजपूतों में

भाग्यवादिता का निष्क्रिय अन्ध विश्वास भी पैदा कर दिया जिससे राजपूत अनेक बार जीतते—जीतते हार बैठे।

रणथम्भौर के शासक हम्मीर ने राजपूतों के धर्म का निर्वाह करने के लिए ही अलाउद्दीन खिलजी के मुस्लिम विद्रोहियो को शरण दिया था। क्योंकि मध्यकालीन भारत में राजपूतों में पारिवारिक धर्म प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए, अपने वचन का पालन करने और शरणागतों को सुरक्षा का आश्वासन देने की परम्पराएं विद्यमान थीं और हम्मीर ने उन्हीं परम्पराओं का पालन किया था। यही कारण था कि जिससे उसका राज्य अलाउद्दीन खिलजी का विरोधी बन गया और अपना राज्य गंवा बैठा[18]।

समाज में विभिन्न विचार धाराएं प्रवाहित हो रही थीं। जिस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक आदि के क्षेत्र में विषमता दिखायी जाती है उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हो रहे थे। राजपूतों ने हिन्दू धर्म अपनाया। उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये और समय—समय पर दान भी दिये। शिव तथा विष्णु की पूजा की प्रधानता थी। वैदिक यज्ञों का लोप हो चला था। समाज में मूर्तिपूजा के साथ दान, तीर्थाटन, धार्मिक समारोहों आदि का महत्व बढ़ने लगा था[19]।

इस काल में धार्मिक मामलों में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। ग्यारवहीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का पतन हो गया था। अब जो बौद्ध धर्म प्रचलित हुआ था, वह बौद्ध और शाक्त धर्मों का मिश्रण था और केवल देश के एक कोने में बंगाल और बिहार तक सीमित रहा। इसके

विपरीत जैन धर्म गुजरात और राजपूताना में फैला। यह परिवर्तन इस कारण हुआ कि सामाजिक स्तर में ब्रह्मणों की स्थिति ऊँची हो गयी थी[20]।

राजपूत काल में जहां एक ओर शैव–धर्म का प्रचलन हुआ वहां दूसरी ओर वैष्णव धर्म भी प्रतिष्ठित हुआ। इस काल में अनेक राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। प्रतिहार–नरेश देवशक्ति को परम वैष्णव की उपाधि से विभूषित किया गया है। विष्णु की पूजा अनेक रूपों में हुई। विष्णु लोक–कल्याणकारी देवता हैं। संसार का भार धारण करने विष्णु अनेक अवतार धारण करते हैं।

सांस्कृतिक गतिविधियां

राजपूत–काल साहित्यिक उन्नति का काल है। राजपूत राजा विद्वानों को आश्रय प्रदान करते थे। ये राजा समय–समय पर पुरस्कार तथा दान भी देते थे। समय–समय पर सभाओं का आयोजन होता था।

राजपूत राजाओं ने अनेक निर्माण कार्य किये। इन्होंने अनेक राजप्रसाद, भव्य भवन, तालाब, नहरें और मन्दिर बनवाये। अनेक दुर्ग निर्मित किये। रणथम्भौर, चित्तौड़ और ग्वालियर के दुर्ग आज भी प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश में माण्डू, ग्वालियर, चन्देरी और अमीरगढ़ के दुर्ग राजपूत–काल की कला के भव्य स्मारक हैं[21]।

राजपूत काल की शिल्पकला के अनेक उदाहरण ग्वालियर के मानसिंह के महल, अम्बर (जयपुर) के स्मारक और उदयपुर के महल में

मिलते हैं। अनेक राजपूतनगर और महल कृतिम झीलों और पहाड़ियों के बीच स्थित हैं। राजस्थान में जोधपुर का दुर्ग एक ऊँची पहाड़ी पर स्थित है।

राजपूतों में रूढ़िवादी परम्परायें

राजपूत काल में स्त्रियों की स्थिति के बारे में विभिन्न इतिहासकार विभिन्न मत व्यक्त करते हैं। ईश्वरी प्रसाद के अनुसार, ''इस काल में स्त्रियों को बड़े सम्मान के साथ देखा जाता था। उनके अनुसार राजपूत लोग अपनी स्त्रियों का आदर करते थे और यद्यपि जन्म से मुत्यु तक उनका जीवन भयंकर कठिनाइयों का होता था, विपत्तियों में अद्‌भुत साहस तथा दृढ़ संकल्प का प्रदर्शन करती थीं और ऐसी वीरता का कार्य सम्पन्न करती थी जो संसार के इतिहास में अद्वितीय है। दूसरी ओर डॉ0 सतीशचन्द्र के अनुसार स्त्रियों की स्थिति ठीक नहीं थी। वे लिखते हैं, ''पहले की तरह इस काल में भी स्त्रियों का मानसिक स्तर नीचा माना जाता था। उनका कर्तव्य मूलतः बिना सोचे समझे अपने पति की आज्ञा का पालन करना था।'' वे अन्यत्र लिखते हैं, ''आमतौर पर औरतों को भरोसे लायक नहीं समझा जाता था और उन पर परिवार के पुरूष सदस्यों पिता, भाई, पति, पुत्र आदि का नियंत्रण रहता था।'' आम धारण यह है कि इस काल में स्त्रियों की दशा कई दृष्टियों से अच्छी थी और कई दृष्टियों से उनकी स्थिति में गिरावट आयी। उदाहरणार्थ उनकी स्थिति अच्छी थी क्योंकि– (1) अनेक परिवारों में घर पर स्त्रियों का मां, बहन, पत्नी तथा पुत्री के रूप में बहुत आदर होता था। (2)

राजपूत युद्धकाल में कभी स्त्रियों पर हाथ नहीं उठाता था और सैनिक उनके सतीत्व को सम्मान की दृष्टि से देखता था। (3) आरम्भ में पर्दा प्रथा नहीं थी लेकिन धीरे–धीरे मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव के कारण पर्दा प्रथा आ गयी। (4) जहां पत्नियों के लिए पतियों की सेवा नैतिक दृष्टि से अनिवार्य मानी जाती थी वहां पतियों के लिए भी धर्म पथ पर चलना, घृणा, क्रोध तथा ईर्ष्या से यथासम्भव दूर रहना भी जरूरी माना जाता था। (5) स्त्रियों को, पति द्वारा सन्यास ग्रहण करने, उसके द्वारा छोड़ जाने, नपुंसक होने तथा मृत्यु होने की स्थिति में पुनर्विवाह की अनुमति थी। (6) तलाक की स्थिति में पत्नी के रहन–सहन का व्यय पति को उठाना पड़ता था। (7) इस काल में स्त्रियों को निजी सम्पत्ति बनाये रखने का अधिकार था। यदि उसका पति ऐसी हालत में मर जाता जबकि वह अपने पीछे बेटा नहीं छोड़ जाता था तो स्त्रियों को पति की पूरी जायदाद मिलती थी। बाप एवं मां के मर जाने के बाद (अगर वह दम्पत्ति पुत्र विहीन होता तो) लड़कियां ही उसकी सम्मपत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती थीं। (8) राजघरानों एवं सामन्तों में स्वयंबर की प्रथा थी। उच्च घरानों की स्त्रियां प्रायः संस्कृत तथा व्याकरण का अच्छा ज्ञान रखती थीं। वे काव्य रचना, कहानी लिखने, संगीत, चित्रकला, नृत्यकला आदि में पारंगत होती थीं[22]।

पर अनेक दृष्टियों से राजपूतकालीन स्त्रियों की स्थिति ठीक नहीं कही जा सकती, जैसे– (1) उनके पति की मृत्यु के बाद सती होना पड़ता था। ऐसा लगता है कि बहुपत्नी विवाह और सम्मपत्ति के लिए बढ़ते झगड़ों के कारण इस कुप्रथा में वृद्धि हुई। (2) साधारण वर्ग की

स्त्रियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं थी क्योंकि बाल–विवाह की प्रथा निरन्तर लोकप्रिय होती गयी। (3) युद्धप्रिय राजपूतों में पुत्र के स्थान पर पुत्री के जन्म को बहुत ज्यादा अशुभ एवं दुःखदायी समझा जाता था। लेकिन हर जाति में इतना दुःख नहीं महसूस किया जाता था। (4) राजपूत काल में जौहर की प्रथा थी। जब राजपूत लोग शत्रुओं से घिर जाते थे और बचने की आशा नहीं रह जाती थी तब उनके स्त्रियों को अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर प्रथा करते हुए जिन्दा सामूहिक रूप से जलना पड़ता था। (5) कई बार कुछ रूढ़िवादी राजपूत लोग कन्या वध कर देते थे ताकि उन्हें युवा होने पर पुत्रियों का विवाह करने की कठिनाई न उठानी पड़े। (6) इस काल में बहुत सी स्त्रियों को अपने चरित्र में गिरावट के कारण वैश्यावृत्ति गहण करनी पड़ी। सम्भवतः इसी काल में देशवासियों की कुप्रथा का भी प्रादुर्भाव हुआ।

चित्तौण के शासक राजा रतन सिंह के ऊपर जब संकट के बादल चारो ओर छा गये और सर्वनाश के चिन्ह दिखाई देने लगे और शत्रुओं से बचने तथा दुर्ग की रक्षा की आशा न रही तो वहाँ की स्त्रियों ने अपने सतीत्व को बचाने के लिए जौहर रचाया और अपने आप को धधकती आग में अर्पण कर दिया[23]।

राजपूत राजाओ ने स्त्रियों को सम्मान प्रदान किया था। स्त्रियों को पर्याप्त स्वतंत्रता थी। वे अपना वर स्वयं चुन सकती थीं। युद्ध–काल में स्त्रियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायी जाती थी। शिक्षित महिलाएँ कला तथा विज्ञान के क्षेत्रों में पुरूषों से कम नहीं थी। वे पुरूषों

के साथ वाद–विवाद में भाग लेती थीं। मण्डन मिश्र की स्त्री नें वाद–विवाद में कई विद्वानों को परास्त किया था। स्त्रियां कविता नहीं करती थीं। नृत्य संगीत आदि में भी भाग लेती थीं। राजपूत महिलाएं तलवार चलाने में निपुण थीं। वे सतीत्व और देश–भक्ति के उच्च गुणों से युक्त थीं। पति के साथ मर जाना ही उनके लिए उचित समझा जाता था।

सन्दर्भ सूची

1. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0 248
2. वही, पृ0 248
3. वही, पृ0 248
4. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1987, पृ0 130
5. वही, पृ0 131
6. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 47
7. वही, पृ0 65
8. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1987, पृ0 133
9. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0 252
10. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1987, पृ0 132
11. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0 253
12. वही, पृ0 254
13. डॉ0 विपिन विहारी सिन्हा, भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2006, पृ0 06
14. वही पृ0 06
15. वही पृ0 06
16. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0 257
17. डॉ0 विपिन विहारी सिन्हा, भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2006, पृ0 06

18. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 76
19. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0 255
20. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1987, पृ0 135
21. विनोद चन्द्र पाण्डेय, भारतीय संस्कृति, लखनऊ, 1978, पृ0
22. डॉ0 विपिन विहारी सिन्हा, भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, नई दिल्ली, 2006, पृ0 04
23. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 93

****

तृतीय अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी की विजय सम्बन्धी नीति

तृतीय अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी की विजय सम्बन्धी नीति

अलाउद्दीन खिलजी एक महात्वाकांक्षी शासक था। मुगलों की पराजय तथा जफरखाँ की मृत्यु को जो बिना किसी अपयश के ही हो गयी वह अपनी बहुत बड़ी विजय समझता था। सिंहासनारूढ़ होने के तीन वर्ष के बीच में अलाउद्दीन को भोग विलास में ग्रस्त रहने तथा महफिलें और जश्न करने के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य न रह गया था। लगातार युद्ध हुए किन्तु प्रत्येक में उसे विजय प्राप्त हुई। इन विजयों की सफलता में अलाउद्दीन खिलजी की विजय सम्बन्धी नीति मूल रूप से उत्तरदायी थी जिसके परिणामस्वरूप ही अलाउद्दीन खिलजी को उत्तर भारत के साथ ही दक्षिण भारत में सफलता प्राप्त हुई।

अलाउद्दीन खिलजी को एक के बाद एक सफलता प्राप्त होने से वह मदान्ध हो गया था। उसके मस्तिष्क में भिन्न–भिन्न प्रकार की विजय सम्बन्धी नीतियाँ पनपने लगीं। उसने ऐसी–ऐसी बातें सोचनी आरम्भ कर दी जिन पर इससे पूर्व किसी अन्य सुल्तान ने विचार न किया था। उसने एक असम्भव और कठिन विजय सम्बन्धी नीतियों पर विचार करना शुरू कर दिया[1]।

लक्ष्य के प्रति दृढ़ता का प्रदर्शन

एक के बाद एक होने वाले विद्रोहों से अलाउद्दीन इस परिणाम पर पहुंचा कि स्थिति को सुधारने के लिए सख्त कदम उठाना आवश्यक है। अपने विश्लेषणशील मस्तिष्क से उसने इस असाध्य रोग के चार

कारण ढूंढ निकाले : (1) गुप्तचर व्यवस्था की–जो सुलतान को साम्राज्य में होने वाली घटना के प्रति सजग तथा सावधान रखे, (2) बिना किसी रोकटोक तथा प्रतिबन्ध के मदिरापान की आदतः, (3) अमीरों तथा समाज के नेताओं का अधिक पारस्परिक मेलजोल जिससे षड्यन्त्रकारी भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता था, और (4) व्यक्तिगत सम्पत्ति की अपरिमित वृद्धि जिससे लोगों को सुलतान के विरूद्ध कुचक्र रचने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता था। अलाउद्दीन कठोर यथार्थवादी था और जब उसे किसी कार्य प्रणाली की उपादेयता में विश्वास हो जाता, तो वह जहां तक परिसम्पत्तियां उसका साथ देतीं, निर्भीक रूप से उनका अनुसरण करता। उसने घोषणा की, ''विद्रोहों को रोकने के लिए, जिनमें हजारों लोग नष्ट होते हैं, मैं ऐसी आज्ञाएं जारी करता हूँ जिन्हें मैं राज्य की अभिवृद्धि तथा जनता के लिए आवश्यक समझता हूँ। लोगों का व्यवहार अविचार असम्मानपूर्ण है और वे मेरी आज्ञाओं का उल्लघंन करते हैं। इसलिए उनसे आज्ञा पालन करवाने के लिए मुझे कठोर बरताव करने पर बाध्य होना पड़ता है। मैं यह नहीं जानता कि यह नियमानुमोदित है अथवा नियम–विरूद्ध, मैं जो कुछ राज्य के लिए हितकर और अवसर विशेष के लिए उपयुक्त समझता हूॅ उसी को करने का आदेश देता हूॅ। और कयामत (अन्तिम न्याय) के दिन में मेरा क्या होगा इसे मैं नहीं जानता।''

अलाउद्दीन जितना धूर्त और क्रूर था उतना ही महत्वाकांक्षी भी था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह कुछ भी करने में नहीं झिझकता था और उसकी महत्वाकांक्षायें असीम थीं। यदि कभी ऐसा

राजा हुआ है जिसने अपने अन्तः करण को पूर्णतया कुचल दिया हो, तो वह अलाउद्दीन खिलजी था। वह दूसरा सिकन्दर बनना चाहता था, किन्तु उसमें महान् विजेता के चरित्र की उच्चता नहीं थी। अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए उसने जलालुद्दीन का, जो उसका संरक्षक, चाचा तथा ससुर था, का वध किया। इसलिए उसने देवगिरि को लूटा और इसीलिए मंगोलों का नाश किया। और इसीलिए उसने जलालुद्दीन के उत्तराधिकारियों का ही नहीं बल्कि उन जलाली अमीरों का भी मूलोच्छेदन किया, जो सोने के लोभ से उसके भक्त बन गये थे। उसका विचार था कि जो एक बार विश्वासघात कर चुके हैं, वे फिर ऐसा कर सकते हैं। इसके बाद वह जी–जान से विजय के कार्य में जुट गया। यह बात आगे बतायी जायेगी कि किस प्रकार अन्हिलवाड़, चित्तौड़, उज्जैन, बारंगल, द्वारसमुद्र और मदुरा को विजय किया गया। इन विजित स्थानों के शासकों के साथ जो व्यवहार किया गया वह पोरस के प्रति किये गये सिकन्दर के व्यवहार से सर्वथा भिन्न था[2]।

गुप्तचर व्यवस्था बड़ी प्रबल थी और जनसाधारण से लेकर शक्तिशाली अमीर तक गुप्तचरों से आतंकित थे। गुप्तचर विभाग का प्रमुख अधिकारी बरीद–ए–मुमालिक होता था जिसके अधीन विभिन्न बरीद शहरों, बाजारों और आबादी वाले स्थानों में नियुक्त रहते थे। ये एक तरह के सन्देशवाहक थे जो हर घटना का सन्देश अपने अधिकारी या सुल्तान तक पहुंचाते थे। वास्तव में बरीद लोग सल्तनत की आंख और कान थे जिनसे सुलतान को राज्य की छोटी–मोटी घटना की सूचना प्राप्त होती रहती थी। बरीदों के अलावा और दूसरे सूचना देने

वाले भी थे जो 'मुन्ही' कहलाते थे। इनके विभिन्न दर्जे थे। ये सुलतान को छोटे बड़े सब लोगों से सम्बन्धित छोटी से छोटी बात की सूचना पहुंचाते थे। बरनी के अनुसार, ये लोग घरों में प्रवेश कर सकते थे। अलाउद्दीन खिलजी का गुप्तचर विभाग जिस कठोरता से काम करता था उसके संकेत बरुनी के इन शब्दों से मिलता है[3]–

''कोई भी उसकी (अलाउद्दीन) जानकारी के बिना हिल डुल भी नहीं सकता था। अमीरों बड़े पादरियों और कर्मचारियों के घरों में जो भी बातें होती थीं उनकी सूचना सुलतान के पास पहुंच जाती थी। सूचनाओं की उपेक्षा नहीं की जाती थी। बड़े–बड़े महलों में अमीर लोग ऊँचे स्वर से बात नहीं कर सकते थे। यदि उनको कुछ कहना होता था तो वे केवल संकेतों से समझा दिया करते थे। अपने ही घरों में रात–दिन वे इन खबरगीरों के भय से कांपते रहते थे। ऐसा कोई शब्द मुँह से नहीं निकाला जाता था और न कोई ऐसा काम किया जाता था जिसके कारण उन्हें फटकार सहनी पड़े या दण्ड भोगना पड़े[4]।''

हो सकता है कि बरनी का वर्णन कुछ अतिश्योक्तिपूर्ण हो, क्योंकि गुप्तचर आज के समान सम्भवतः छद्मवेश में नहीं रहते थे और लोगों को मालूम रहता था कि कौन बरीद है और कौन मुन्ही है, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि अलाउद्दीन का गुप्तचर विभाग लोगों के लिए चाहे वे अमीर या मलिक हों, या साधारण वर्ग के हों– एक आतंक बन गया था। अलाउद्दीन का बाजार– नियंत्रण कुछ–कुछ इसलिए सफल हुआ कि गुप्तचर विभाग पूर्ण सजग और कठोर था[5]।

सुलतान अलाउद्दीन ने गद्दी प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के बाद भूमि अनुदानों और अन्य पुरस्कारों का अन्त कर दिया। उसने उन सभी अमीरों को कठोरता के साथ दण्डित किया जिन्होंने जलालुद्दीन का अनैतिकतापूर्वक साथ छोड़ दिया था। जब वे अपने पुराने सुलतान के प्रति ही निष्ठावान नहीं रहे तो उनसे नए सुलतान के प्रति निष्ठावान बने रहने की क्या आशा की जा सकती थी। अलाउद्दीन ऐसे लोगों में से कुछ को अन्धा करवा दिया और कुछ को मृत्यु–दण्ड दिया। साथ ही उन सभी को अपनी सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया। सन् 1297 में ये नियम मलिकों और अमीरों के एक विशेष वर्ग तक ही सीमित थे, किन्तु सन् 1301 में रणथम्भौर में सुलतान की वापसी पर उनका प्रभाव–क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया। वे नियम अब राज्य के सारे सम्पन्न व्यक्तियों, अमीरों, व्यापारियों, यहां तक कि छोटे जमींदारों के विरुद्ध अर्थात् जिनके पास कोई भी सम्पत्ति थी, उनके विरुद्ध जारी कर दिये गये। सुलतान ने आदेश दिया कि सारी भू–सम्पत्ति, ग्राम और अन्य भूमि, जो लोगों के पास मिल्क (सम्पत्ति), इनाम और वक्फ (उपहार) के रूप में है, अब वापस ले लिए जाएं और खालसा भूमि में परिवर्तित कर दिए जाएं। यह सम्भव है कि सारे स्वत्व जब्त न किये गये हों क्योंकि भूमि–अनुदान पद्धति अलाउद्दीन के समय में पूर्णतः नहीं त्यागी गयी थी। अलाउद्दीन खिलजी की सारी योजनाऐं एक के पश्चात् एक सफल होती गयीं और विजय के समाचार चारों दिशाओं से आने प्रारम्भ हो गये। यह उसकी लक्ष्य के प्रति दृढ़ता का ही परिणाम था[6]।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका एक और प्रसिद्ध कदम था– नशीली वस्तुओं के विक्रय और प्रयोग का निषेद्य। उसने मद्य–निषेद्य इसलिए लागू नहीं किया कि मद्यपान जन–साधारण के लिए हानिकारक था बल्कि इसलिए कि इसके प्रयोग के परिणामस्वरूप लोग समूह में एकत्र होते थे और वे उन्मत्त हो जाते थे और विद्रोह के बारे में सोचने की ओर प्रवृत्त हो जाते थे। विद्रोह को प्रोत्साहन देने वाले हर तत्व समाप्त करने के उद्देश्य से सुल्तान ने मद्य निषेद्य का आदेश दिया।

जिनका जीवन–यापन मदिरा की बिक्री पर आधारित था, मदिरा के विक्रय और प्रयोग के अवैध साधनों का प्रश्रय लिया। उन्होंने छोटी–छोटी भट्ठियां खड़ी की और अवैध रूप से मदिरा बनाने लगे। इस प्रकार तैयार मदिरा काले–बाजार में बेंची जाने लगी और गुप्त रूप से पी जाती थी। राजधानी में मदिरा न केवल अवैध रूप से तैयार की जाती थी, बल्कि वह मशकों में या घास या ईधन में छिपाकर और अन्य अनेक तरीकों से दिल्ली लायी जाती थी। किन्तु अलाउद्दीन के आदेश कभी भी अधूरे लागू न किये जाते थे। जैसे ही उसे ज्ञात हुआ कि मदिरा गुप्त रूप से बेंची जाती है, उसने अपराधियों को कठोरता से दण्डित किये जाने का आदेश दिया। उसकी मदिरा जब्त कर ली गयी और शाही पशु–शालाओं के हाथियों को पिला दी गयी। अपराधियों को डण्डों से पीटा गया, उन्हें बेड़ियों से जकड़ दिया गया और बदायूं दरवाजे के सामने विशेष रूप से निर्मित किए गये भूमिगत तहखाने में डाल दिया गया। इन भयावह कोठरियों में अनेक अपराधी सड़ गये और

मर गये, और जो मुक्त कर दिये गये उन्हें अपनी शक्ति पुनः प्राप्त करने में बहुत समय लगा। गुप्तचर विभाग (बरीदों और मुनहियानों) की कठोरता के कारण मदिरा का क्रय और विक्रय करना बिल्कुल सम्भव नहीं रहा[7]।

विजय प्राप्ति के लिए सामदाम दण्ड भेद की नीति का प्रयोग

अलाउद्दीन एक न्यायप्रिय शासक था। न्याय प्रशासन में वह कठोर और दृढ़ था। सैद्धान्तिक रूप से सुल्तान न्याय–प्रशासन का प्रधान और सल्तनत का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह राजदरबार में मुकदमें और अपील सुनता था और न्याय का वितरण करता था। सुल्तान के बाद न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी सदर–ए–जहां काजी–उल– कुजात होता था। उसके नीचे अन्य काजी होते थे। न्याय–प्रशासन में काजी का प्रधान सहायक मुफ्ती होता था। मुफ्ती कानून की व्याख्या करते और अपना परामर्श देते थे। दिल्ली का न्यायाधीश अमीर–-ए–दादबेग –ए–हजरात कहलाता था। प्रान्तों में प्रान्तपति, प्रान्तीय काजी और मुफ्ती आदि न्याय प्रशासन की देख भाल किया करते थे। न्यायाधीशों के अतिरिक्त कार्यकारिणी के अन्य प्रधान भी मुकदमों का फैसला किया करते थे। अलाउद्दीन निष्पक्ष एवं शीघ्र न्याय का पक्षपाती था।

अलाउद्दीन खिलजी सिकन्दर के कामों को दोहराना और अपनी विजय पताका दूर–-दूर तक फहराना चाहता था। जैसा कि एडवर्ड गिवन उचित ही कहते हैं, ''जब तक मानव जाति अपने लाभ पहुँचाने वालों की

अपेक्षा अपने विनाशकों की अधिक उदार प्रशंसा करेगी, सैनिक यश की तृष्णा सदैव ही अत्यन्त श्रेष्ठ चरित्रों का दुर्गुण रहेगी[8]। इसके साथ ही अलाउद्दीन के दण्ड विधान अत्यन्त कठोर और निर्मम थे। अभियुक्तों और विद्रोहियों की आंखें फोड़ देना, नाक कान काट लेना और अंग भंग करना, सम्पत्ति को छीन लेना, कारावास, मृत्युदण्ड आदि जैसे कठोर दण्ड राज्य में प्रचलित हैं। कोड़ें मारना तो अत्यन्त सहज दण्ड था। अपराधियों के अपराध स्वीकार करने के लिए अनेक तरह की यातनाएं दी जाती थी। समकालीन इतिहासकार फरिस्ता, बर्नी आदि के अनुसार सुल्तान की इस कठोर दण्ड व्यवस्था के कारण लूट–पाट, चोरी आदि का साम्राज्य में नाम भी सुनने को नहीं मिलता था[9]।

सर्वप्रथम लोगों की सम्पत्ति छीन ली गयी। यह आदेश दिया गया कि जो भी गॉव किसी की सम्पत्ति हो या ईनाम हो वक्फ हो उसे एकदम हस्तगत राज्य में लिखा जाय। आदेश की पूर्ति के लिए लोगों को तंग किया गया, उत्पीड़ित किया गया और कुछ न कुछ बहाना करके धन निचोड़ा गया। बहुतों के पास तो कुछ भी नहीं बचा और अन्त में स्थिति ऐसी हो गयी कि मालिकों, अमीरों, अधिकारियों, मुल्तानियों और साहूकारों के अलावा किसी के पास कोई चीज भी नहीं रही। सम्पत्ति का यह अपहरण बड़ी कठोरता के साथ किया गया और कुछ हजारों टकों के सिवाय सारी वृत्तियां, ईनाम, माफियां और वक्फ छीन लिए गये। बरनी लिखता है कि– इसके बाद तब लोग जीविकोपार्जन की दिशा में लग गये और कोई विद्रोह का नाम नहीं लेता था।

दूसरे, सुल्तान ने गुप्तचरों का जबरदस्त जाल बिछा दिया और चारों ओर से बड़ी सावधानी और चतुरता से खबरें मांगना शुरू किया। राज्य भर में गुप्चरों का आतंक छा गया। तीसरे, मद्य–पान और मद्य–विक्रय का निषेद्य कर दिया गया। हल्की शराब और मादक पदार्थ भी नहीं बेचे जा सकते थे। जुआ खेलना कानूनन बन्द कर दिया। चौथे सुल्तान ने आदेश दिया कि अमीर और बड़े लोग एक दूसरे के मकान पर न जायँ, दावतें न दें तथा गोष्ठियाँ न करें। सुल्तान की अनुमति प्राप्त किये बिना कोई शादी–विवाह न करे और न अपने घरों पर लोगों को आमंत्रित करें। आदेश का पालन बड़ी कठोरता से कराया गया और गुप्तचरों के भय से अमीर लोग शान्त हो गये[10]।

यहाँ सल्तनत–काल के दण्डों के संबंध में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। शिरोच्छेद, अंगभंग और अपराधी को बेड़ियों से जकड़कर रखना दण्ड के सामान्य रूप थे। चाबुक से मारना भी बहुत प्रचलित था और एक बार तो एक व्यक्ति को एक हजार चाबुक मारे गये[11]। फरिश्ता फिरोज तुगलक के समय के भयावह दण्डों का अच्छा वर्णन देता है। वह कहता है, ''छोटी सी बात पर मुसलमान का रक्त बहाना और छोटे–छोटे अपराधों के लिए उनके हाथ पैर, नाक और कान काटकर, आंखें निकालकर, जीवित अपराधियों की हड्डियों को हथौड़ी से तोड़कर, आगे से उसकी देह जलाकर, शूली पर चढ़ाकर और हाथ पैर पर कीलें ठोंक कर, जीवित जलाकर, घुटने का सिरा काटकर और शरीर के टुकड़े–टुकड़े करके उन्हें अंगहीन करना और यातना देना साधारण बात रही है। यातनाएं अपराध स्वीकार करने के लिए दी जाती

थीं। धूर्त बनिए, जो कम तौलने के अपराधी पाये जाते, अपने शरीर से मांस काटकर तौल की कमी पूरी करने के लिए बाध्य किये जाते । परस्त्रीगमन के लिए पत्थर मारना भाले की नोक पर मृत व्यक्ति के शरीर को कई दिनों तक लटकाना और उसे नगर में घुमाया जाना सामान्य घटनाएं थीं[12]।

अपराधी को दण्डित करने में अलाउद्दीन अतिशय कठोर था, और नगर में मदिरा का तस्कर व्यापार करने या सार्वजनिक रूप से मदिरापान करने वाले अपराधियों को विशेष उद्देश्य से खोदे गये कुओं में बन्दी रखा जाता था। ये कारागार इतने भयावह रहते थे कि कई लोग इनमें मर जाते थे और जो जीवित बच भी जाते थे उनका स्वास्थ्य बिल्कुल नष्ट हो जाता था। घोड़े के व्यापारी के दलालों और सुलतान के आदेशों का उल्लंघन करने वालों को सुदूर किलों में निष्काषित कर दिया जाता था। 'सायरूल औलिया' का लेखक अमीर खुर्द ऐसे कारागारों की भयावह स्थिति का वर्णन करता है। वह कहता है कि एक बार उसका पिता सैयद कमाल सुल्तान बिन तुगलक द्वारा देवगिरि के समीप भक्सी–कारागार में बंदी बना लिया गया था। वह कहता है कि उस स्थान के सम्बन्ध में ऐसे समाचार मिले थे, कि कोई भी बंदी उससे जीवित बाहर नहीं आता था, क्योंकि वह चूहों और सर्पों से भरा पड़ा था।

विरोधी पक्ष के लोगों को अपनी ओर मिलाना

दक्षिण के राज्य भी उत्तर भारत की राजपूत रियासतों के समान अपास में संघर्षरत रहते थे, अतः वे पूर्ण शक्ति के साथ अथवा संयुक्त रूप से मुस्लिम आक्रान्ताओं का मुकाबला नहीं कर सके। प्रायः यह हुआ कि जब कभी मुस्लिम सेनाएं किसी राज्य में पहुंचती तब उस राज्य की सेना दसरे पड़ोसी राज्य से युद्ध में उलझी होती थी, जिसके परिणामस्वरूप युद्ध का संगठित और अव्यवस्थित शक्ति के साथ प्रतिरोध नहीं किया जा सका। डॉ0 किशोरी शरन लाल के शब्दों में ''जब 1296 ई0 में अलाउद्दीन देवगिरि आया हुआ था तब सिंहनदेव अपनी सेना के साथ होयसल राज्य की सीमाओं पर व्यस्त था, जब काफूर होयसल देश पहुंचा तब वहां का राजा पाण्ड्य देश का कुछ भाग छीनने के प्रयत्न से दूर दक्षिण गया हुआ था, और दोनो राज कुमार सुन्दर पाण्ड्य तथा वीर पाण्ड्य एक दूसरे के घोर शत्रु थे।''

दक्षिण के नरेश आपसी शत्रुता से ही ग्रस्त नहीं थे, बल्कि एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या के कारण या सुल्तान की कृपा अर्जित करने के लिए अथवा विदेशी–शत्रु की सहायता से स्वयं को सुदृढ़ बनाने के लिए वे अपने ही पड़ोसी के विरूद्ध शाही सेना की सहायता करने, तथा उसे गुप्त सूचनाएं प्रदान करने से नहीं चूकते थे। यह बड़ी दयनीय और लज्जास्पद बात थी कि राजा रामचन्द्र देव ने दक्षिण के अभियानों में मलिक कफूर को प्रत्येक बार हरसम्भव सहायता दी और बीर बल्लाल ने मावर अभियान में शाही सेना का मार्गदर्शन किया। इसी प्रकार सुन्दर

पाण्ड्य ने अपने सौतेले भाई वीर पाण्ड्य के विरूद्ध काफूर से सहायता की प्रार्थना की।

देवगिरि को जीतकर उसको सल्तनत के अधीन बनाने के बाद काफूर जब दिल्ली लौट गया तो देवगिरि के शासक रामचन्द्र देव ने सदैव के लिए विदेशी के प्रति निष्ठावान रहने का निश्चय कर लिया और शक्ति संचय कर पड़ोसी राज्यों की सहायता से मुस्लिम आक्रमण के प्रतिरोध की तैयारी का प्रयत्न नहीं किया वीर बल्लाल ने भी इसी प्रकार का रवैया अपनाया। दक्षिण की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि यदि वहां के शासक शक्तिशाली अलाई सेनाओं के विरूद्ध छापामार युद्ध आरम्भ कर देते तो इससे न केवल शत्रु परेशानी में पड़ जाता बल्कि ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो सकती थी कि सम्भवतः अलाई सेना फिर दक्षिण की ओर मुंह न करती। किन्तु ऐसा नहीं हुआ और दक्षिण के शासकों ने सल्तनत के प्रति अपनी वफादारी रखने मे ही अपनी कुशलता समझी। हिन्दुओं की यह कायरता उनके ले डूबी।

दक्षिण राज्यों की फूट उनका दब्बूपन आदि तो उनकी पराजय का कारण थे ही अलाउद्दीन की सैनिक क्षमता भी उनकी पराजय का मुख्य कारण थी। डॉ0 के0एस0 लाल के शब्दों में, 'अलाउद्दीन की सेवा उसके अनेक सैनिक सुधारों के कारण कुशल सुसज्जित और सुसंगठित थी। उसकी घुड़सवार सेना की फुर्ती आश्चर्यजनक थी, जिसने दिल्ली और देवगिरि के बीच की दूरी को लगभग समाप्त ही कर दिया था। यह घुड़सवार सेना सन्तुष्ट रखी जाती थी। सुल्तान ने मलिक नायब को

कई बार आदेश दिया था कि वह दूरस्थ प्रदेश में अपने सैनिकों के प्रति सावधानी बरते और उनकी सुविधा का ध्यान रखे।

मुस्लिम धर्मान्धता का लाभ उठाने का प्रयास

अलाउद्दीन सल्तनत काल का पहला ऐसा शासक था जिसने इतने विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया और अनेक आन्तरिक और वाह्य संकटो के होते हुए भी प्रभावशाली ढंग से उस पर शासन किया। वह अपने सह–धर्मावलम्बियों का नेता होने के साथ ही वह जनता का शासक भी था। अपने कार्यों के लिए वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था, और धरती पर ईश्वर का नायब होने का दावा करता था। उसकी प्रजा का कर्तव्य उसकी आज्ञा का पालन करना और आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी प्रतिवाद के कष्ट उठाना था। अलाउद्दीन खिलजी असीमित रूप से स्वेच्छाधारी शासक था जो किसी भी कानून से बंधा नही था, किसी भी भौतिक प्रतिबंध के अधीन नहीं था, और अपने सिवा किसी का भी मार्गदर्शन स्वीकार नही करता था। लोगों के पास कोई अधिकार नहीं थे, केवल कर्तव्य थे। वे केवल उसके आदेशों का पालन करने के लिए जीवित रहते थे[13]।

खलीफा मुस्लिम संसार का अधिपति था, उसकी सत्ता मुस्लिम शासकों द्वारा शासित सुदूर प्रदेशों में भी मानी जाती थी। इल्तुतमिश जैसे दिल्ली के प्रारम्भिक सुल्तानों ने उसी से अपनी स्थिति, विशेषाधिकार और पद प्राप्त करने का दावा किया। उसके नाम के साथ इतना भय और आदर जुड़ा हुआ था कि अल मुस्तसिम बिल्लाह का

नाम जलालुद्दीन खिलजी के सिक्कों में 1296 ई0 तक अंकित किया जाता था।

दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों ने अस्बासी खलीफाओं के आदर्श पर अपने धर्म का प्रचार और उसकी रक्षा, विजयों द्वारा, प्रशासन की एक कुशल पद्धति द्वारा और छोटे–बड़े सबको न्याय दान के द्वारा सन्तुष्ट करने का प्रयास किया। इस्लाम का प्रचार करने की इच्छा में वे बहुसंख्यक गैर मुस्लिम जनता के विश्वासों और भावनाओं की पूर्ण अपेक्षा न कर सके। इस देश में गैर मुस्लिमों के विरूद्ध सतत् 'जिहाद' सम्भव नही था। सिन्ध में मुहम्मद बिन कासिम के अभियान के समय ही कुछ अरबों के नेताओं ने धर्म युद्ध के नाम पर हिन्दुओं को उत्पीड़ित न करना और इस प्रकार अपने विरूद्ध उन्हें न भड़काना ही व्यावहारिक समझा।

राजनैतिक आवश्यकताएं धार्मिक सहिष्णुता की मांग करती थी। आन्तरिक विद्रोह उत्तराधिकार का अनिश्चित कानून, समग्र देश में अनेक स्वतंत्र हिन्दू रियासतों के अस्तित्व और स्थायी मंगोल आक्रमणों के कारण एक अस्थिर बुद्धि और धर्मान्ध शासक की अपेक्षा एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता थी। इन्हीं कारणों से बलबन, जैसे शासकों ने कभी भी धर्म को राजनीति के ऊपर नही रखा।

अलाउद्दीन खिलजी के समय लौकिक शक्ति ने धार्मिक शक्ति को पूर्णतः आच्छादित कर दिया। बयाना के काजी मुगीसुद्दीन के साथ उसके विवाद, एक ओर राज्य की राजनीति में धर्मांध उलमा की

सलाह का अनुसरण करने की असंभाव्यता को और दूसरी ओर एक मध्यकालीन निरंकुश शासक के दृष्टिकोण को स्पष्टतः प्रकट करते हैं। अलाउद्दीन खिलजी का विचार था कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही है। शासक का कार्य राज्य का प्रशासन चलाना था जबकि ''शरा'' विद्वानों, काजियों और मुफ्तियों की वस्तु थी।

अलाउद्दीन खिलजी ने अपने 20 वर्षों के इतिहास में केवल दो बार इस्लामी धर्म शास्त्र पर दो विशेषज्ञों के साथ बातचीत की। उनमें एक दिल्ली का कोतवाल और सुल्तान का व्यक्तिगत मित्र अला उल मुल्क और दूसरा था बयाना का काजी एवं अपने समय का एक महानतम धर्मशास्त्री मुगीसुद्दीन। निश्चय ही अलाउद्दीन खिलजी ने उलेमा को राजकीय मामलों में उनके प्रभाव को चुनौती न देकर उन्हें नाराज नही होने दिया किन्तु उदार राजकीय संरक्षण और व्यवहार कुशलता के साथ--साथ निरंकुश सत्ता के इस्तेमाल से उसने उन्हें पूरी तरह अधीनस्थ और वशवर्ती बना दिया।

एक दिन जब प्रजा पर कर बढ़ाने के प्रयास चल रहे थे तो अलाउद्दीन ने मुगीसुद्दीन से कहा कि वह उससे कोई प्रश्न पूंछना चाहता है और यह भी चाहता है कि वह सच–सच बोले। काजी अन्दर तक कांप गया और उसने जबाब दिया ''मेरी तकदीर का देवदूत निकट आ गया लगता है क्योंकि अब मुल्तान मुझसे धर्म सम्बन्धी बातों पर प्रश्न करना चाहते हैं यदि मैं सच बोलूंगा तो आप क्रुध होंगे और मेरी हत्या कर देगें।'' सुल्तान ने उसे जीवन दान का बचन दिया किन्तु उसे

इस्लामी विधि में उसने जो कुछ पढ़ा था उसी के अनुरूप जबाब देने का निर्देश दिया। एक इस्लामी राज्य में हिन्दुओं के साथ बर्ताव के सम्बन्ध में एक प्रश्न के उत्तर में काजी इस्लामी धर्म ग्रन्थों का बहुत विस्तार से उद्धरण देने लगा। अलाउद्दीन उसके उत्तरों पर मुस्कराया और बोला, ''आपका कोई भी बयान मै नहीं समझता, मैने उपाय किए हैं और अपनी प्रजा को आज्ञाकारी बनाया है जिससे कि मेरे आदेशों पर चूहों की तरह वे बिल में रेंगने को तैयार हैं।

बरनी का मत है कि शासक को परिस्थितियों के अनुसार कठोर या दयालु होना चाहिए। यह सत्य है कि लोगों में न्याय का प्रचार करने हेतु शक्ति और सत्ता सम्पन्न शासक की आवश्यकता होती है। फतवा–ए–जहाँदारी में बरनी कहता है कि आरिज को सैनिकों के प्रति माता और पिता से भी अधिक दयालु होना चाहिए। उसे सैनिकों को उसी प्रकार दण्डित करना चाहिए जिस प्रकार एक दयालु पिता अपने कर्तव्यच्युत पुत्र को दण्डित करता है, उसे दुष्टता का आश्रय नहीं लेना चाहिए[14]।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन की मुस्लिम धर्मान्धता के कारण उसकी शक्ति को धार्मिक वर्ग के किसी आघात और चुनौती का समाना नहीं करना पड़ा।

युद्ध के दौरान सैनिकों पर अनुशासन बनाये रखना

सल्तनत का मुख्य आधार उसकी सेना थी। अतः सेना के संगठन का इस युग में बहुत महत्व था। दिल्ली के सुल्तानों की सेना के प्रायः

सभी सैनिक मुसलिम थे, जो या तो अफगान, तुर्क आदि उन जातियों के थे, जिनकी सहायता से शहाबुद्दीन गौरी ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, और या उन भारतीय क्षत्रियों में से थे, जिन्होंने इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। कतिपय हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों की सेनायें भी आफगान सेना में शामिल रहती थीं, पर ऐसे सैनिकों की संख्या बहुत कम थी। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय नायब सुल्तानों की भी अपनी सेना होती थीं, जो जहां प्रान्तीय क्षेत्र में शांति और व्यवस्था कायम रखने का काम करती थीं, वहां साथ ही नये प्रदेशों की विजय में या किसी विद्रोह सामन्त के साथ संघर्ष में सुल्तान की सहायता भी करती थीं। सेना के मुख्य विभाग पदाति, अश्वारोही और गजारोही होते थे। बारूद का प्रयोग अभी शुरू नहीं हुआ था, इसलिए तोपखाने का सेना में कोई स्थान नहीं था। पर इस प्रकार के कुछ यांत्रिक उपकरण इस युग तक अविष्कृत हो चुके थे, जिनसे शत्रु पर पत्थर आदि फेंके जा सकते थे[15]।

फ़तवा–ए–जहाँगीरी में जियाउद्दीन बरनी लिखता है कि ''राजत्व दो स्तम्भों पर आधारित रहता है– पहला स्तंभ है प्रशासन और दूसरा है विजय। दोनो स्तम्भों का आधार सेना है यदि शासक सेना के प्रति उदासीन है तो वह अपने ही हाथों से राज्य का विनाश करता है।'' वह इस तथ्य को स्वीकार करता है कि ''राजत्व ही सेना है और सेना राजत्व है।'' मध्यकालीन इतिहास में सेना को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था।

यह सच है कि अलाउद्दीन जैसा साम्राज्य निर्माता किसी भी प्रकार अपनी सेना की उपेक्षा नही कर सकता था। उसने सैनिक प्रशासन के पुनर्गठन पर पूरा ध्यान दिया था। सन् 1903 में तरगी के नेतृत्व में मंगोलों के आक्रमण ने सुल्तान को किलेबन्दी की आवश्यकता के प्रति सचेत किया। उसने पुराने किलों की मरम्मत करवाई और सामरिक महत्व के स्थानों पर नये किलों का निर्माण किया। इन किलों में अनुभवी तथा विवेकशील सेनानायक नियुक्त किये। इन्हें 'कोतवाल' कहा जाता था। किलो में हर प्रकार के शस्त्रों, आनाज तथा चारे के भंडार को रखने की व्यवस्था भी की गयी थी[16]।

अलाउद्दीन ने सेना का केन्द्रीकरण किया। उसने इस स्थायी सेना की सीधी भरती की और केन्द्रीय कोषागार से सैनिकों को नकद वेतन देना प्रारम्भ किया। सेना की इकाइयों का विभाजन हजार, सौ और दस पर आधारित था, जो खानों, मलिकों, अमीरों, सिपहसालारों इत्यादि के अन्तर्गत थी। दस हजार की सैनिक टुकड़ियों को 'तुमन' कहा जाता था। अमीर खुसरों के अभियानों के वर्णन से स्पष्ट है कि अलाउद्दीन की सेना में भी 'तुमन' थे हालांकि बरनी ने 'तुमन' का उल्लेख केवल मुगल सेना के संदर्भ में किया है।

मुख्य रूप से सेना में घुड़सवार और पैदल सैनिक होते थे, और हाथी भी युद्ध के समय प्रयोग किये जाते थे। दीवन–ए–आरिज सैनिकों की नामावली और हुलिया रखता था। अलाउद्दीन ने घोड़ों को दागने की प्रथा को भी जारी रखा, जिससे निरीक्षण के समय किसी भी घोड़े

को दुबारा प्रस्तुत न किया जा सके या उसके स्थान पर निम्न श्रेणी का घोड़ा न रखा जा सके। समय–समय पर सेना का कठोर निरीक्षण किया जाता था और घोड़ों, सैनिकों तथा उनके शस्त्रों की बारीकी से जांच पड़ताल की जाती थी। अमीर खुसरों का कहना है कि जो सेना वारंगल गयी थी उसकी नामावली बनाने और निरीक्षण में चौदह दिन लगे थे।

शत्रु को पूर्णतम विनाश करने की नीति

अलाउद्दीन खिलजी एक निरंकुश शासक था। अपने एकतंत्रीय शासन को मजबूत करने के प्रयास में उसने अमीरों तथा कृषक अभिजात वर्ग की शक्तियों पर नियंत्रण स्थापित किया और राज्य की नीतियों के निर्धारण में उसने उलेमा को पूरी स्वतंत्रता नहीं दी, वह स्वाभावगत इतना स्वेच्छाधारी और अभिमानी था कि वह अनैतिक और आक्रमणकारी उपयों को भी अपनाने से भी नहीं झिझका। उसने राज्य की गतिविधियों में अमीरों अथवा उलमाओं के हस्तक्षेपों को कभी भी बर्दास्त नही किया। सुल्तान जिसने, हमेशा ही अमीरों को अपने नियंत्रण में रखा, ने शायद ही कभी उनके राजनीतिक अथवा प्रशासनिक गतिविधियों में विश्वास किया। स्वाभाविक रूप से, अलाउद्दीन ने सार्वजनिक आलोचना और उपहास द्वारा मुसलमानों और शेखों को विरोधी न बनने देने के लिए भरपूर प्रयास किया। मुस्लिम विद्वानों, सन्तों और धर्मतत्वज्ञों ने राज्य से उदार भाव से वजीफा (मदद–ए–मौश) और सम्मान प्राप्त किया। राज्य के शैक्षिक और न्यायिक संस्थानों के सभी महत्वपूर्ण पदों को उनके लिए आरक्षित कर दिया गया। उनके प्रमुखों

को प्रशासनिक शैक्षिक संस्थानों, न्यायालयों, धार्मिक स्थलों तथा अनुदान कोषों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। उन्होंने मुस्लिम समुदाय की सामाजिक व धार्मिक समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त स्वतंत्रता का उपभोग किया। शीघ्र ही अलाउद्दीन ने हिन्दू प्रमुखों के विरूद्ध अपने युद्ध तथा जिम्मियों को ठीक–ठाक करने के लिए मुस्लिम धर्मोन्माद का सफलता पूर्वक प्रयोग किया था। फिर भी, वह दिल्ली के सुल्तानों में प्रथम व्यक्ति था, जिसने शत्रु को पूर्णतम विनाश करने की नीति अपनायी। उसने सम्पूर्ण निरकुशवाद के सिद्धान्त के आधार पर धर्म निरपेक्ष राज्य नीति का प्रारंभ किया[17]।

अलाउद्दीन खिलजी में सेनानायकत्व का गुण होना

अलाउद्दीन खिलजी की सजगता किसी भय का परिणाम नहीं थी। वास्तव में एक बार किसी कार्यप्रणाली का निश्चय कर लेने के पश्चात् उसे कार्यान्वित करने के लिए अलाउद्दीन मे बल और इच्छा शक्ति थी। वह रक्त पर चलकर सिंहासन पर बैठा, किन्तु जिन परिस्थितियों ने उसे सिंहासन प्राप्त करने के लिए उत्साहित किया था, वे निस्सेन्देहः प्रमाणित करती है कि वह एक योग्य सेना नायक था। यह कहा जाता है कि अलाउद्दीन स्वयं एक महान सेनानायक रही था और उसकी विजयें अल्पखाँ और नायब काफूर जैसे उसके योग्य सेनानायकों के कारण थी। किन्तु यह मत पूर्णता त्रुटिपूर्ण है। जब अलाउद्दीन एक साधारण व्यक्ति था उस समय उसने मलिक छज्जू के साथ युद्ध में और विदिशा के धावे में अपनी योग्यता का परिचय दिया था। तत्पश्चात्

देवगिरि की शक्तिशाली मराठा सेना पर उसकी स्तम्भित कर देने वाली विजय ने एक सेना नायक के रूप में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित कर दी। गद्दी पर अधिकार हो जाने के पश्चात् अलाउद्दीन स्वयं सुरक्षा सम्बन्धी कारणों से तुरन्त ही राजधानी नहीं त्याग सका और इसलिए उसने उलुगखाँ और नुसरतखाँ को मुल्तान पर अधिकार करने और गुजरात को विजित करने के लिए भेजा। किन्तु 1299 ई में उसने सफलतापूर्वक कुतलुगख्वाजा को हटाया और 1303 ई0 में तरगी के सर्वाधिक दुर्दम्य आक्रमण को पीछे ठेल दिया। मुगलों के विरूद्ध प्रस्थान करने के पूर्व जिस प्रकार उसने मलिक अलाउल्मुल्क से तर्क किया था, वह स्पष्टतः सुल्तान के शौर्य और उसके खिलाड़ीपन की भावना को प्रकट करता है। तरगी के आक्रमण के समय मंगोलों के विरूद्ध अपनी रक्षा करने के लिए अलाउद्दीन ने जो किलेबन्दी की थी, वह युद्ध कौशल में उसकी दक्षता बताती है। अत्यंत दुर्दम्य युद्ध, जैसी कि आशा की जा सकती है, या तो मंगोलो के विरूद्ध या राजपूताना में लड़े गये थे और उनमें से अधिकांश में सुल्तान स्वयं उपस्थित था और वहां उसने संगठन करने की अपनी क्षमता, अपनी कूटनीति और सेना सम्बन्धी कौशल का परिचय दिया।

जब रणथम्भौर के घेरे के समय उलुगखाँ को पीछे हटना के लिए बाध्य होन पड़ा तो अलाउद्दीन स्वयं रणथम्भौर के विरूद्ध चला और उसने उसे केवल अपने अनवरत श्रम और श्रेष्ठतर सैन्य–कौशल से पराजित किया। 1303 ई0 में अलाउद्दीन चित्तौड़ को पराजित करने में सफल हुआ, जिसे कोई भी पूर्ववर्ती सुल्तान अधिकृत न कर सका था

और बाद में जिसने अकबर जैसे प्रबल सम्राट के भी दांत खटटे कर दिए[18]। चित्तौड़ की विजय के पश्चात् मंगोलों के साथ घातक संघर्ष की बारी आयी, इसमें भी सुल्तान को आश्चर्यजनक सफलता मिली। 1303 के पश्चात् अलाउद्दीन ने कुछ प्रशासकीय सुधार किये और राजधानी से बाहर न जा सका, किन्तु विजय–कार्य ऐनुल्मुक मुल्तानी और नायब काफूर जैसे उसके सेना नायकों द्वारा जारी रखा गया। 1308 में काफूर ने दक्षिण को प्रस्थान किया और अलाउद्दीन सेवाना को चला। इस प्रकार 1290 से 1308 तक अलाउद्दीन लगातार युद्धरत रहा और सदैव उसे विजयश्री प्राप्त हुई। जब काफूर ने दक्षिण में अपना देदीप्यमान जीवन–क्रम प्रारम्भ किया तब सुल्तान को शिविर–जीवन में विश्राम लेने के लिए सुन्दर, शोभायमान और भव्य भवनों के निर्माण के लिए प्रचुर समय मिलने लगा। अलाउद्दीन ने अपने सेनानायकों से अपने आदेशों को जिस सीमा तक कार्यान्वित कराया और अपने लिए विजयें करवाई, इसी में उसकी सेना सम्बन्धी कुशलता प्रदर्शित होती है। एक ऐसे युग में, जबकि कलह और विद्रोह साधारण बातें थीं और एक सैनिक नेता निश्चित रूप से सिंहासन प्राप्त करने की आकांक्षा रखता था, उलुगखाँ, मलिककाफूर और गाजी मलिक जैसे योग्य सेनानायकों ने सुल्तान के प्रति अटूट आज्ञाकारिता प्रदर्शित की। ऐसे व्यक्तियों को अपने नाम पर विजयें प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना अलाउद्दीन की सेना सम्बन्धी योग्यता की श्रेष्ठता, सेना का नेतृत्व करने की उसकी जन्मजात योग्यता प्रकट करता है और बताता है कि वह सेनापतियों का सेनापति था।

वस्तुतः उसकी विजयें इतनी प्रभावशाली थीं कि भारतवासी उसकी विजयों से अत्यन्त प्रभावित हुए [19]।

पराजित राज्य के प्रति कूटनीति व्यवस्था

दक्षिणी राज्यों पर विजय प्राप्त करके सुल्तान ने समस्त भारत को कम से कम एक राजनीतिक सूत्र में बाँध दिया। वह पहला सुल्तान था जिसने विजय प्राप्त करने के बाद यह नवीन कार्य सम्पादित किया। उसके शासनकाल से दक्षिण में होने वाले उस नाटक का प्रारम्भ हुआ जो औरंगजेब के शासनकाल तक चलता रहा। 1296 ई0 में जब देवगिरि पर प्रथम आक्रमण किया गया तब उसका उद्देश्य केवल धन प्राप्त करने का था। यह धन कहीं और भी मिल सकता था किन्तु जिस सुविधा के साथ दक्षिण में धन मिलना सम्भव रहा उतना कहीं भी और स्थान से मिलना दुर्लभ था। दक्षिण के मंदिर अपार धन–सम्पत्ति के केन्द्र में थे और वह इस सम्पूर्ण एकत्रित सम्पत्ति के अपहरण का इच्छुक था। मलिक कफूर के अभियानों ने कुछ समय के लिए दक्षिणी प्रायःद्वीप की शक्तियाँ एवं व्यवस्था नष्ट कर दी। प्रमुख रियासतें– यादव, काकतीय, होयसल और पांड्य– विभिन्न प्रकार के आघातों का केन्द्र बन गयीं। अपार सम्पत्ति ले जायी गयी।

दक्षिण में शाही सेना की सफलता का प्रधान कारण यही था कि उत्तरी राजपूत रियासतों की भांति दक्षिण के हिन्दू–राज्य भी आपस में निरन्तर संघर्ष करते रहते थे। उनमें इतनी राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं थी कि वह अपने हित तथा रक्षा के लिए किसी वाह्य शत्रु के विरुद्ध

संगठित जो जायँ। शत्रु के विरुद्ध एकता से लड़ना तो दूर वे उन्हें अपने ही पड़ोसी राजाओं के विरुद्ध सहायता देते थे। जब 1296 ई0 में अलाउद्दीन देवगिरि गया तो सिंघण देव अपनी सेनाओं के साथ होयसल राज्य की सीमाओं की ओर गया था। जब काफूर होयसल राज्य के विरूद्ध पहुँचा तो वह पांड्य प्रदेश का कुछ भाग प्राप्त करने के सम्बन्ध में सुदूर दक्षिण में था, और राजकुमार सुंदर पांड्य तथा वीर पांड्य एक–दूसरे के कट्टर शत्रु थे। रामदेव ने तेलंगाना की विजय में मलिक काफूर को सहायता दी और वीर बल्लाल ने सूदूर दक्षिण में माबर में शही सेनाओं को सहयोग दिया। सुंदर पांड्य ने अपने भाई के विरूद्ध सुल्तान से सहायता प्राप्त करके देशवासियों के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न की[20]।

काफूर को आदेश दिया गया था कि जो शासक सुल्तान का प्रभुत्व स्वीकार करके संधि करना चाहें उनके प्रति वह सद्व्यवहार करे और उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाएँ। दक्षिण के पराजित शासकों के साथ भी उदारता का व्यवहार किया गया। देवगिरि का राजा मित्र और सहायक हो गया। उसी की सहायता से वारंगल तथा द्वारसमुद्र के राजाओं को परास्त किया जा सका। माबर की चढ़ाई में होयसल नरेश बल्लाल तृतीय ने मलिक काफूर का पथ–प्रर्दशन किया और उसे हर प्रकार की सहायता दी। अंत में अलाउद्दीन ने देवगिरि को सल्तनत में मिलाने की नीति अपनाई।

इस दक्षिण–विजय से उत्तरी भारत में काफी धन आ गया। राजकोष इतना समृद्धि हुआ कि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों को भारी आर्थिक संकट का समाना नहीं करना पड़ा। इसी धन से सुल्तान ने अपनी निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता को सुदृढ़ बनाया और अनेक योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी पराजित राज्य के प्रति कूटनीतिक व्यास्था कायम करने में निपुण था।

उत्तर भारत के राज्यों पर सल्तनत का सीधा शासन

अलाउद्दीन खिलजी केवल सोना और चांदी प्राप्त करने के लिए देवगिरि पर आक्रमण करने वाला और शाही मुकुट धारण करने के लिए अपने चाचा की हत्या करने वाला सूरमा एक घृणित लुटेरे और हत्यारे से कुछ अधिक था। राजपूताना में जैसलमेर के रेतीले मरूस्थल में और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर की पत्थरीली भूमि में युद्ध करके उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया था। ऐसा केवल विजय प्राप्त करने के लिए नहीं और न केवल अपनी सेना की शक्ति प्रदर्शित करने के लिए ही, बल्कि अपनी सत्ता के अन्तर्गत समग्र देश को एकीकृत करने के लिए किया गया था। कम से कम स्वर्ण–प्राप्ति का लोभ उसे वहां नहीं ले गया, राजपूताना से कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं की जा सकती थी। इसके विपरीत उस प्रदेश के अभियान अत्यन्त व्यसाध्य रहे होंगे। किन्तु उनसे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। जालौर के पतन के पश्चात् न केवल सम्पूर्ण राजपूताना, बल्कि सम्पूर्ण उत्तर भारत उसकी मुट्ठी में आ गया।

उत्तर–पश्चिम में उसकी सेनाएं गजनी तक गई थीं[21]। और उत्तर पूर्व में उसकी शक्ति का अनुभव दूरस्थ नैपाल की भूमि पर किया जा चुका था[22]। दिल्ली के एक सामान्य सुल्तान से अलाउद्दीन अपनी योग्यता और अपने हृदय के अदम्य उत्साह के बल पर हिन्दुस्तान का सम्राट हो गया। उसके विस्तृत प्रदेश उसके द्वारा नियुक्त प्रान्तीय अधिकारियों या ''मुक्ताओं'' द्वारा शासित किये जाते थे और सबने निष्ठापूर्वक और आज्ञाकारिता से उसकी सेवा की[23]।

चित्तौड़, मालवा, सेवाना, जालौर आदि पर महत्वपूर्ण विजय प्राप्त करके, लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में सत्ता स्थापित की। कश्मीर, नेपाल, असम तथा उत्तर–पश्चिमी पंजाब के कुछ भाग को छोड़कर समस्त प्रदेश अलाउद्दीन के साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। उत्तरी भारत की विजय के साथ ही अलाउद्दीन का दक्षिणी भारत की विजय का अभियान भी आरम्भ हो गया जहां उसकी सेनाएँ सन् 1308 से 1312 ई0 तक निरन्तर जूझती रहीं। इन अभियानों का नायब स्वयं सुल्तान नहीं बल्कि उसका प्रिय और योग्य सेनानायक मलिक कफूर था[24]।

दक्षिण भारत मे अलाउद्दीन खिलजी के उद्देश्य

दक्षिण भारत में सैनिक अभियान करने में अलाउद्दीन के कई उद्देश्य थे– प्रथम, अलाउद्दीन एक अत्यधिक महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी सुलतान था जो सिकन्दर सानी बनने का स्वप्न देखता था। अतः उसने उत्तरी भारत की विजय के उपरान्त दक्षिण भारत पर अपनी विजय पताका फहराने की योजना बनायी। जब उसे यह पता

चला कि दक्षिण में अतुल सम्पत्ति का भंडार है तो उसकी दक्षिण विजय की आकांक्षा और भी प्रबल हो गयी। उसका साहस तब और बढ़ गया जब उसे अपने गुप्चरों से सूचना मिली कि दक्षिण के राज्य आपसी कलह के कारण दुर्बल हैं और उनकी सीमाएं प्रायः सुरक्षित हैं। सन् 1296 ई0 में देवगिरि के प्रथम अभियान में जो अतुल सम्पत्ति अलाउद्दीन के हाथ लगी उसने उसे सुल्तान बनने में सहायता दी थी, अतः अब वह दक्षिण विजय के लोभ का संवरण कैसे कर सकता था।

दूसरे, अलाउद्दीन ने 4 लाख 75 हजार सैनिकों की शक्तिशाली नियमित सेना खड़ी की थी और मंगोल आक्रमणों को शान्त करने तथा अधिकांश उत्तरी प्रान्त को विजय के उपरान्त अलाउद्दीन के सामने यह समस्या थी कि इन सैनिकों को और क्रियाशील रखा जाए। सेना को कार्यरत रखने का सर्वोत्तम उपाय यही था कि हमें दक्षिण के अभियानों पर भेजा जाए। यदि सेना शान्त रहती तो सम्भव था कि सैनिकगण देश के भीतर ही उपद्रव करने लगते।

तीसरे, विशाल सैनिक संगठन के सपोषण और खर्चीले शासन यन्त्र के लिए अलाउद्दीन को काफी मात्रा में धन की आवश्यकता थी और यह धन उसे दक्षिण की लूट में मिल सकता था।

चौथे, अलाउद्दीन ने सन् 1302 ई0 के आस–पास बंगाल और वारंगल की विजय के लिए जो सेना भेजी थी वह असफल रही थी और अब अपने नूतन प्रयास द्वारा वह अप्रतिष्ठा की इस कालिमा को धो देना चाहता था।

पाँचवें, गुजरात के शासक करण बघेला की पत्नी विमला देवी, जो गुजरात के पतन के बाद शाही हरम में शामिल कर ली गयी थी, अपनी पुत्री देवल देवी से मिलने के लिए व्यग्र थी जो इस समय देवगिरि में थी। संक्षेप में, दक्षिण भारत के राज्यों पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन के उद्देश्य धन–प्राप्ति और विजय लालसा दोनों ही थे। दक्षिण–भारत के राज्यों को जतीने से अथवा उन्हें सल्तनत को वार्षिक कर देने के लिए बाध्य करने से अलाउद्दीन की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती थी और उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा भी पूरी होती थी।

डॉ0 यू0एन0 पाण्डेय ने इस उद्देश्य पर अधिक बल देते हुए लिखा है कि, ''अलाउद्दीन दक्षिण एवं सुदूर दक्षिण के राज्यों को अधीनस्थ राज्य बनाने के लिए पूरी तरह सोच–विचार के बाद निश्चित की गयी नीति का अनुसरण कर रहा था ताकि ये राज्य उसकी सम्प्रभुता को स्वीकार करें, उसे वार्षिक कर दें और प्रत्येक प्रकार से उसके अधीनस्थ राजाओं की भांति व्यवहार करें।'' अलाउद्दीन एक व्यहारिक राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि दक्षिण के दूरस्थ राज्यों को साम्राज्य में सम्मिलित कर उन पर शासन करना असम्भव है, अतः उसका उद्देश्य दक्षिण के राज्यों को सल्तनत में शामिल न कर सल्तनत की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य करना और दक्षिण की सम्पत्ति को हस्तगत करना था। यही कारण था कि जिन राज्यों ने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे वार्षिक कर दिया, उनके शासकों के प्रति अलाउद्दीन का व्यवहार सम्मानजनक रहा। डॉ0 एस0 राय के अनुसार भी ''अलाउद्दीन ने दक्षिण में राज्य विस्तार की इच्छा कभी

नहीं की, वह तो हिन्दू राजाओं से अपनी प्रभुता स्वीकार करवाना और उनसे बड़ी मात्रा में राजस्व प्राप्त करना चाहता था।''

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत में सैनिक अभियान किये। सुलतान स्वयं दक्षिण के सैनिक अभियान में नहीं गया बल्कि दक्षिण–भारत की विजय का मुख्य श्रेय मलिक काफूर को था जो एक गुलाम की स्थिति से अपनी योग्यता के कारण 'नायब' के सर्वोच्च पद पर पहुंच गया।

दक्षिण के राज्यों को प्रभुत्व स्वीकार कराना और उन्हें आन्तरिक स्वतंत्रता देना

दक्कन में राजनीतिक शक्ति के रूप में इस्लाम के प्रचार का श्रेय अलाउद्दीन खिलजी को दिया जाता है। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में जब वह काड़ा (इलाहाबाद) और अवध का गवर्नर था तब उसने अपना पहला अभियान 1296 में देवगिरि (महाराष्ट्र के आधुनिक दौलताबाद) पर किया। बरनी कहता है कि अलाउद्दीन के साहसिक कारनामों से पहले उस देश (देवगिरि) के लोगों ने कभी भी मुसलमानों का नाम नहीं सुना था, मुस्लिम सेनाओं द्वारा मराठा भूमि कभी भी शासित नहीं की गयी। अब तक राज्य में किसी भी मुसलमान सम्राट अथवा राजकुमार का प्रवेश नहीं हुआ था। देवगिरि में काफी मात्रा में सोने–चाँदी, आभूषण तथा मूल्यवान वस्तुएं उपलब्ध थीं। मराठा राज्य पर सेना की 8000 टुकड़ियों के साथ अचानक हमला करके अलाउद्दीन नें रामचन्द्रदेव के गर्व को चकनाचूर कर दिया और उससे काफी मात्रा में

युद्ध क्षतिपूर्ति की राशि प्राप्त की। साथ ही इलिचपुर के राजस्व को साल दर साल देने का भी उससे वायदा लिया। वह लूट के माल के साथ कारा लौटा। लूट के माल में निम्नलिखित मदें थीं:– 600 मन सोना, 1000 मन चाँदी, सात मन मोती, दो मन हीरे, माणिक्य और अन्य बहुमूल्य पत्थर तथा घोड़ों, हाथियों एवं दासों के अतिरिक्त सिल्क पदार्थों के करीब 4000 टुकड़े। उसके द्वारा हड़पी गयी आपर सम्पत्ति पर युवा तथा महत्वाकांक्षी राजकुमार की निगाह पड़ी जिसने शीघ्र ही अपने चाचा की हत्या की और राजगद्दी को हड़प लिया।[25]

देवगिरि के सोने के कारण उसे राजगद्दी प्राप्त करने में सफलता मिली तथा इसी धन से उसने अपने राज्य को अखिल भारतीय साम्राज्य में परिवर्तित करनें की प्रेरणा मिली। उसकी राजनीति के एक अपरिहार्य अंग के कारण दक्कन की जीत संभव हुई। दक्षिण खजाने पर अधिकार पाने की अलाउद्दीन की कल्पना ने ही उस महत्वाकांक्षी युवा को महान साम्राज्यवादी में परिवर्तित कर दिया और राजपूताना और मध्य ऐशिया की जीत ने दिल्ली और विंध्य की खाईं को पाटने में योगदान दिया। उसके द्वारा राजगद्दी प्राप्त करने से पहले से ही दक्कन की जीत का विचार उसके मस्तिष्क में था। इसीलिए जब अलाउद्दीन उत्तरी भारत पर विजय हासिल रहा था तभी से वह दक्षिण में हो रही गतिविधि पर ध्यान जमाये हुए था। उसने दक्कन की स्थालाकृति, शहरों की ओर जाने वाली सड़कों आदि का अध्ययन किया और दक्षिणी राज्यों के सिंहासनों पर बैठे हिन्दू शासकों के राजकोष तथा उसकी सैन्य क्षमता के बारे में जानकारी प्राप्त की। देवगिरि में रामचन्द्र देव के अतिरिक्त

दक्षिण में तीन अन्य महान राजा थे– ककातीय राजवंश के प्रताप रूद्रदेव II जिसका मुख्यालय वारांगल (तेलंगाना) था, होयसलों के वीर बल्लाल III जिसकी राजधानी द्वारसमुद्र थी, तथा दक्षिण के दूरवर्ती स्थल मदुरा पर कुलशेखर पाण्डव। उत्तरी भारत के राजपूत प्रमुखों की तरह इन शासकों में भी मित्रता का आभाव था। ये तीनों हमेशा आपस में लड़ते रहे तथा इनमें एक दूसरे को समाप्त करने की भावना हमेशा बनी रही। इसलिए इनको एक–एक करके पराजित करना बहुत कठिन कार्य नहीं था।

अलाउद्दीन का दक्षिण विजय का स्वरूप प्राचीन भारतीय सम्राटों की दिग्विजय के समान था। वह दक्षिण के राज्यों को जीत कर साम्राज्य में मिला लेने अथवा दक्षिण की जनता पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने की इच्छा नहीं रखता था। किन्तु उसकी दक्षिण नीति राजनीतिक दूरदर्शिता का सीधा परिणाम थी। वह भली–भाँति समझ चुका था कि सुदूर दक्षिण को राज्य में मिलाकर उस पर नियंत्रण रखना संभव न होगा। मुख्य रूप से दक्षिण की भौगोलिक स्थिति, यातायात के साधनों का अभाव, दिल्ली से दक्षिण की दूरी और दक्षिण की प्रधानता और प्रभाव इन सभी समस्याओं के कारण दक्षिण के विजित प्रदेशों का विलय नहीं किया गया। अलाउद्दीन तो केवल इन रियासतों को 'कर देने' वाले राज्य ही बनाना चाहता था। उसकी एकमात्र इच्छा यह रही कि दक्षिण के राज्य उसकी अधीनता स्वीकार कर लें और नियमित रूप से कर देते रहें[26]।

अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को विजित किया, किन्तु उनको अपने राज्य में नहीं मिलाया बल्कि अपने अधीन बनाकर छोड़ दिया अर्थात् उन्हीं राज्यों के नरेश दिल्ली सल्तनत के करद राजा बन गये। सल्तनत को वार्षिक कर भेजते रहे और इस प्रकार स्वयं को सुल्तान का सम्मानित सेवक मानते रहे। अलाउद्दीन की यह दक्षिण–नीति दूरदर्शितापूर्ण थी क्योंकि सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से यह न तो पूर्णतया सम्भव था और न उचित ही कि दक्षिण और सुदूर दक्षिण के राज्यों को, जहाँ पहुँचने में महीनों लग जाते थे, साम्राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया जाता। अलाउद्दीन के लिए सबसे आवश्यक बात यह थी कि उसके विशाल सैनिक–व्यय के लिए आर्थिक स्रोत खुले रहें और दक्षिण की जीत तथा लूट कर और वहाँ से भारी मात्रा में वार्षिक राजस्व वसूलकर अलाउद्दीन ने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की। डॉ0 के0एस0 लाल के अनुसार, ''दक्षिण से प्राप्य सब धन जब हस्तगत कर लिया गया तो दिल्ली सल्तनत में उन राज्यों को विलीन कर कठिनाइयां आमंत्रित करना निरर्थक था। राजपूताना के निरन्तर युद्धों ने अलाउद्दीन को विजित प्रदेशों को साम्राज्य को विलीन करने की नीति की हानियों से अवगत करा दिया था। वह अपनी राजपूताना की गलतियों को दक्षिण में दुहराने के लिए तैयार नहीं था[27]।''

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय का एक स्वरूप यह रहा कि दक्षिण की विजय कभी पूरी और निर्णायक रूप में नही हुई। दक्षिण के शक्तिशाली राज्यों को लूट लिया गया सन्धि की शर्तों द्वारा उन्हें सल्तनत के प्रभाव–क्षेत्र में ले लिया गया, यद्यपि शंकर देव (सिंघनदेव)

और प्रताप रूद्रदेव ने पूर्ण पराजय स्वीकार नहीं की और वीर पाण्ड्य को भी पकड़ा नही जा सका। डॉ0 लाल के अनुसार, ''इसमें भी संदेह है कि वारंगल दुर्ग ने कभी समर्पण भी किया। न तो अलाउद्दीन ही दक्षिण की निर्णायक रूप में विजित कर सका और न ही उत्तरवर्ती सुल्तान। मुहम्मद तुगलक की कठिनाइयों ने भी सिद्ध कर दिया कि दक्षिण को साम्राज्य में सम्मिलित करना किसी भी दशा में सुरक्षित नही था। अलाउद्दीन के लिए सन्तोष और प्रतिष्ठा की बात यही थी कि अधिकांश दक्षिण उसके प्रभाव–क्षेत्र में आ गया और रामचन्द्र देव तथा बीर बल्लाल जैसे राजा दक्षिण में सल्तनत के प्रति स्वामिभक्त और सहायक बने रहे।

पराजित राज्यों से अधिक से अधिक धन की प्राप्ति का लक्ष्य

अलाउद्दीन, महावतखाँ, शाहजहाँ और औरंगजेब सबने दक्कन में अपना जीवन क्रम प्रारम्भ किया। इसी प्रकार दक्षिण में कफूर की विजयों ने सल्तनत काल के इतिहास में उसका नाम अमर कर दिया है। वस्साफ अतिशयोक्ति नहीं करता, जब वह कहता है कि दक्कन में काफूर की जगमगाती विजयों ने हिन्दुस्तान में महमूद गजनवी की विजयों को अच्छादित कर लिया। वस्तुतः दक्षिण में काफूर के अभियानों के पीछे वही उद्देश्य जो उत्तर में महमूद के थे। सब बातों के ऊपर दक्कन की अथाह सम्पत्ति ने ही उसे विन्ध्या के पार के राज्यों पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। दक्षिण में प्राप्त किया जा सकने वाला सारा धन जब अधिकृत कर लिया गया, तो दिल्ली सल्तनत

में उन रियासतों को विलीन करना और कठिनाइयां आमंत्रित करना निरर्थक था।

राजपूताना के लगातार कई युद्धों ने अलाउद्दीन को, विजित प्रदेश साम्राज्य में विलीन करने की नीति की हानियों से अवगत करा दिया था। वह अपनी राजपूताना की गलतियों को दक्कन में दुहराने के लिए तैयार नहीं था। साथ ही, दक्कन की विजय कभी पूरी नही हुई। निस्संदेह देवगिरि, बारंगल, द्वारसमुद्र और गाबर की सम्पत्ति लूट ली गयी या सन्धि की शर्तों के द्वारा प्राप्त कर ली गई, तथापि न तो सिंघन और न प्रताप रूद्रदेव ने ही पूर्ण पराजय स्वीकार की। सिंघन ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयास किया और इसमें बहुत संदेह है कि बारंगल के किले ने कभी समर्पण किया भी। होयसल राजा निस्संदेह पूर्णतः पराजित कर दिया गया और अपने–अपने यज्ञोपवीत (जुन्नार) की रक्षा के लिए अपना कोष समर्पित कर दिया, किन्तु पाण्ड्य देश के राजा को पराजित करने में असमर्थ होकर केवल पाण्ड्य देश का विनाश ही किया। ऐसी परिस्थितियों में इन राज्यों को साम्राज्य में विलीन करना दिल्ली सल्तनत के लिए मात्र एक उत्तरदायित्व सिद्ध होता। मुहम्मद तुगलक की कठिनाइयां भी स्पष्टतः प्रकट करती हैं कि दक्कन को साम्राज्य में सम्मिलित करना किसी भी दशा में सुरक्षित नहीं था। किन्तु उन प्रदेशों को साम्राज्य में सम्मिलित किये बिना ही अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षा पूरी हो गयी। रामचन्द्र और वल्लादेव जैसे महान राजा दिल्ली आये, उन्होंने सुल्तान के प्रति स्वयं सम्मान प्रकट

किया, उनके कोष ले लिए गये, साम्राज्य के गौरव में वृद्धि हुई और सल्तनत का कोष दक्कन की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो गया[28]।

हिन्दू विरोधी नीति को प्रोत्साहन

अलाउद्दीन की धार्मिक नीति अनुदार एवं असहिष्णु थी। यद्यपि सुल्तान की प्रजा में हिन्दू बहुसंख्यक थे, किन्तु वह अपने को उस अर्थ में हिन्दुओं का शासक नहीं समझता था जैसा कि मुसलमानों का। उसने हिन्दुओं के कल्याण की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। उसने अपने शासन काल में अपनी हिन्दू प्रजा का दमन ही किया। कुछ विद्वानों के मत में अलाउद्दीन की हिन्दुओं का दमन करने की नीति उसके क्षणिक आवेश का परिणाम थी। किन्तु, ऐसा सोचना भ्रममूलक होगा। वस्तुतः हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति उसकी निश्चित राजनीतिक और धार्मिक विचारधारा का एक अंग थी और सुल्तान ने काफी सोच–समझ कर इस नीति का अपनाया था[29]।

राज्य में हिन्दुओं की क्या स्थिति होनी चाहिए, इस विषय में सुल्तान ने बयाना के काजी मुगीसुद्दीन से परामर्श लिया था। इस पर काजी सुल्तान ने कहा था, ''शारा में हिन्दुओं को खराजगुजर (कर देने वाला) कहा गया है। जब कोई राजस्व विभाग का अधिकारी उनसे चाँदी माँगे तो उनका कर्तव्य है कि बिना पूंछ–ताछ के बड़ी नम्रता के साथ वे उसे सोना दें। यदि अधिकारी उनके मुँह में थूके तो उसे लेने के लिए बिना हिचकिचाहट के उन्हें मुँह खोल देना चाहिए। इस प्रकार अपमानजनक कार्यों से जिम्मी इस्लाम के प्रति अपने आज्ञापालन की

भावना का प्रदर्शन करता है और इससे धर्म का यश बढ़ता है। ईश्वर ने उन्हें अपमानित करने की आज्ञा दी है। पैगम्बर ने हमे उनका बध करने, लूटने तथा बन्दी बनाने का आदेश दिया है। महान ईमाम अबू हनीफा जैसे अधिकारी ने जिनके धर्म का हम अनुसरण करते हैं हिन्दुओं पर जजिया कर लगाने की अनुमति दी है।'' अन्य इस्लामी धर्माधीशों के अनुसार हिन्दुओं के लिए केवल दो मार्ग हैं– मृत्यु अथवा इस्लाम। सुल्तान ने काजी के परामर्श का अनुमोदन किया और हिन्दुओं के प्रति दमनकारी नीति का पालन किया[30]।

उसने हिन्दुओं पर करों की बोझ में वृद्धि कर दी। उन्हें उपज का 50 प्रतिशत लगान के रूप में देना पड़ता था। उसने हिन्दुओं की धन सम्पत्ति का अपहरण किया और कठोरता के साथ उनसे जजिया की वसूली करवायी। उसने हिन्दू अधिकारियों–चौधरी, खूत, मुकद्दम के विशेषाधिकारों का हनन किया तथा थोड़ी सी भूल के लिए भी कठोर सजा दी। सुल्तान ने हिन्दुओं को इतना अधिक दरिद्र बना दिया कि उनके घरों में सोने–चाँदी के दर्शन दुर्लभ हो गये और कभी–कभी तो उनकी स्त्रियों को मुस्लिम परिवारों में जीवन–निर्वाह के लिए सेविकाओं का कार्य करना पड़ा। वस्तुतः अलाउद्दीन के शासनकाल में हिन्दुओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू समाज का अवर्णनीय पतन हुआ।

बरनी ने विस्तार से सुल्तान की हिन्दू विरोधी नीति का वर्णन किया है। सुल्तान स्वयं मुस्लिम–राज्य में हिन्दुओं को कोई सम्मानित

स्थान देने के पक्ष में नही था और जब उसने काजी से इस बारे में पूछा तो काजी का उत्तर था कि– ''उन्होंने (हिन्दुओं को) 'खिराज गुजार' (भेंट देने वाला) कहा गया है और जब कभी माल–विभाग अधिकारी उनसे चाँदी माँगे, तो उन्हें बिना प्रश्न किये और पूर्ण विनम्रमता और सम्मानपूर्वक, स्वर्ण उपस्थित कर देना चाहिए। यदि 'मुहस्सिल' (राज कर वसूल करने वाला) किसी हिन्दू के मुँह में थूकना चाहे तो उसको निर्विरोध भाव से मुँह खोल देना चाहिए। ऐसा करने का अर्थ यह है कि इस प्रकार आचरण से वह अपनी नम्रता और अधीनता, तथा आज्ञापालन और सम्म्मान प्रदर्शित करता है। इस्लाम को गौरवान्वित करना कर्तव्य है और धर्म का तिरस्कार व्यर्थ है। स्वयं खुदा ने उनके पूर्ण पराभव की आज्ञा दी है क्योंकि हिन्दू पैगम्बर के घोरतम शत्रु हैं। पैगम्बर साहब ने कहा है कि या तो वे इस्लाम ग्रहण कर लें अथवा उनको मौत के घाट उतार दिया जाय या दास बना लिया जाय और उनकी सम्पत्ति राजकोष में जमा कर ली जाय। आबु हनीफ सरीखे महान् धर्माचार्य ने हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाने का आदेश दिया है जबकि अन्य धर्माचार्यों का विचार है कि 'मृत्यु अथवा इस्लाम के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है।''

अलाउद्दीन ने हिन्दुओं का दमन करने और उन्हें सम्पत्तिहीन बनाने के लिए निम्नलिखित कठोर कदम उठाए–

1. जजिया जमा कराने के लिए कठोर नियम बनाए गये जो लूट (या खूत) से बलाहार तक समान रूप से लागू हुए। जो लोग अत्यन्त

निर्धन थे उन पर भारी जजिया कर लागू नहीं हुआ पर साथ ही हिन्दुओं को इतना निर्धन बना देने की चेष्टा की गयी कि न तो हिन्दू सवारी रख सकता था और न ही किसी विलास वस्तु का उपभोग कर सकता था। इस सम्बन्ध में दो कठोर आदेश जारी हुए– (क) खेती छोटी हो या बड़ी, उसका लगान नापकर प्रति विस्वा के हिसाब से निश्चित किया जाय और समूची उपज का आधा भाग बिना किसी छूट के सरकार को दिया जाय। यह आदेश दोआब भर में कठोरता से लागू किया गया। (ख) चरागाहों में चराने के लिए प्रत्येक पशु पर कर लगाया गया और उसे प्रत्येक घर से वसूल किया गया। छोटे स छोटे, बीमार या अपंग जानवर भी कर से मुक्त नहीं था। न केवल मवेशियों पर चराई का कर लगाया गया, पर गृह–कर भी वसूल किया जाने लगा। निर्धनों को करों के भार से मुक्त करने के लिए 'खूंटों'' (या खतों) एवं 'बलाहारों' पर ऐसे ही कर लगाए गये। 'खत' और 'कलाहार' हिन्दू भू–स्वामियों की श्रेणियां थी जिनसे सम्भवतः आशय था जमींदार किसान[31]।

2. यह आदेश प्रसारित हुआ कि नियमों को कठोरतापूर्वक लागू किया जाए, कोई दया न दिखाई जाए, और न कोई छूट दी जाए। कर संग्रह करने वाले मुन्शी लोग माल–विभाग के दूसरे लोग, जो बेईमानी करते थे और रिश्वतें लेते थे, नौकरी से हटा दिये गये। बरनी के अनुसार ''सर्फकाई'' (या शराफकाई) नायब वजीरे–मुमालिक ने, जो ईमानदार और योग्य व्यक्ति था, सुल्तान

के आदेशों को अमल में लाने के लिए बहुत परिश्रम किया और इन नियमों को कठोरता से पालन किया गया चौधी, खूत ओर मुकद्दम लोग न तो घुड़सवारी कर सकते थे, न शस्त्र रख सकते थे, न सुन्दर वस्त्र पहन सकते थे और यहाँ तक कि बेचारे पान भी नहीं खा सकते थे।

सुल्तान की नीति हिन्दुओं को एकदम दीन–हीन बना देने की थी और इसलिए भयक्रान्त हिन्दू लोग ऐसे आज्ञाकारी बन गये कि माल विभाग का एक अधिकारी खूतों, मुकद्दमों और चौधरियों को गर्दन पकड़कर ले जा सकता था और थप्पड़ मारकर उनसे जजिया कर वसूल कराता था। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई हिन्दू अपना सिर नहीं उठा सकता था। अब उनके घरों में सोना, चाँदी, टंका या जीतल या किसी प्रकार की कोई बेकार जीज दिखाई नहीं देती थी।'' हिन्दुओं की स्थिति इतनी दयनीय बना दी गयी कि खूतों और मुकद्दमों की स्त्रियाँ, निर्धनता से विवश होकर, मुसलमानों के घरों में मजदूरी करने लगीं।

सन्दर्भ सूची

1. सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पटना, 2008, पृ0 53
2. एस0आर0 शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, आगरा, 1937 पृ0 100
3. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 223
4. वही, पृ0 223
5. वही, पृ0 223
6. सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी, खिलजी कालीन भारत, पटना, 2008, पृ0 53
7. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा 1964, पृ0 171
8. एडबर्ड गिबन ''डिक्लाइन एण्ड फाल आफ दि रोमन एम्पायर'', पृ0 46
9. बिपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ0 114
10. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 215
11. बरनी, फतवा–ए–जहाँदारी, पृ0 446

12. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 207
13. अशरफ, लाइफ एण्ड कन्डीशन्स आफ दि पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, पृ0 128
14. जियाउद्दीन बरनी, फतवा–ए–जहांदारी, पृ0 16
15. सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति का विकास, नई दिल्ली, 2000, पृ0 398
16. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1987, पृ0 213
17. जे0एल0 मेहता, मध्यकालीन भारत का वृहद् इतिहास, नई दिल्ली, 2001, पृ0 130
18. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पंचशील प्रकाशन जयपुर, 1987, पृ0 275
19. वही, पृ0 276
20. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1978, पृ0 255
21. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पंचशील प्रकाशन जयपुर, 1987, पृ0 119
22. वही, पृ0 119
23. वही, पृ0 119
24. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 190
25. जे0एल0 मेहता, मध्यकालीन भारत का वृहद् इतिहास, नई दिल्ली, 2001, पृ0 143

26. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1978, पृ0 256

27. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 208

28. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पंचशील प्रकाशन जयपुर, 1987, पृ0 255

29. बिपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ0 108

30. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स जयपुर, 1975, पृ0 217

31. वही, पृ0 217।

****

चतुर्थ अध्याय

उत्तर भारत के राजपूत राज्य और अलाउद्दीन खिलजी

चतुर्थ अध्याय

उत्तर भारत के राजपूत राज्य और अलाउद्दीन खिलजी

दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाले सल्तनतकालीन सुल्तानों में अलाउद्दीन खिलजी सर्वाधिक महत्वाकांक्षी था। सुल्तान की प्रारम्भिक विजयों एवं अनवरत सफलताओं उसकी महत्वाकांक्षा को असीम बना दिया था। वह सिकन्दर महान की तरह सारे विश्व को जीतने का स्वप्न देखने लगा। सुल्तान निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का महान पोषक था। राज्य का सर्वेसर्वा सुल्तान था। उसकी इच्छा राज्य की कानून थी। यह अपने अधिकारों पर किसी तरह का नियन्त्रण मानने को तैयार नहीं था। जिस किसी ने भी उसका विरोध किया, अथवा उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं किया, सुल्तान के द्वारा उसे कठोर दंड दिया गया। उसने अपने शासन में सुधारों को सैनिक निरंकुशता का आधार प्रदान किया।

अलाउद्दीन ने सुल्तान जलालुद्दीन के खून से हाथ रंग करके दिल्ली की गद्दी प्राप्त किया था। अतः उसको प्रारम्भ में विकट परिस्थितियों और समस्याओं का सामना करना पड़ा। दिल्ली का ताज उसके लिए कांटों की शैय्या सिद्ध हुआ चारों ओर से उसने अपने आपको कठिनाइयों से घिरा पाया लेकिन अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर अलाउद्दीन एक बड़े प्रान्त का प्रान्तपति बन गया था। धीरे–धीरे उसकी गणना सुल्तान के श्रेष्ठ प्रान्तपतियों और सरदारों में की जाने लगी और उसका प्रभुत्व बढ़ता चला गया।

सन् 1296 ई. में सिंहासन पर बैठने के बाद अलाउद्दीन खिलजी के समीप अनेक कठिनाइयां थी। उसने अपने कृपालु चाचा का वध किया था जिसके कारण वह प्रजा की घृणा का पात्र था। अनेक जलाली (जलालुद्दीन के वंश के समर्थक) सरदार अलाउद्दीन से असन्तुष्ट थे। क्योंकि उनकी षडयन्त्रकारी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगाया गया था अतएव वे कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। जलालुद्दीन का बड़ा पुत्र अर्कली खां, पंजाब, मुल्तान और सिन्ध का स्वतन्त्र स्वामी था एवं उसका भाई एवं अपदस्थ सुल्तान रुकनुद्दीन इब्राहीम, उसकी मां तथा अन्य वफादार और योग्य जलाली–सरदार उसकी शरण में थे। वे सभी मिलकर अलाउद्दीन के लिए कभी भी संकट खड़ा कर सकते थे।

अधीनस्थ प्रदेशों में से सम्पूर्ण दोआब और अवध में अलाउद्दीन की स्थिति दुर्बल थी और अधीनस्थ राजा एवं प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर थे। उत्तर पश्चिमी सीमा पर खोक्खर जाति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाये थी और मंगोल भारत में प्रवेश पाने के लिए निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। बंगाल बिहार, उड़ीसा जैसे दूरस्थ प्रदेशों में दिल्ली सल्तनत का प्रभाव नगण्य था और प्रायः स्वतंत्र अथवा अर्ध स्वतन्त्र हिन्दू अथवा मुसलमान शासक वहाँ शासन कर रहे थे।

राजपूतों के उत्तर के राज्य में राजस्थान में प्रायः सभी राज्य स्वतन्त्र थे और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे राज्य दिल्ली सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। बुन्देलखण्ड और मालवा में भी राजपूतों की शक्ति दृढ़ थी। इसके

अतिरिक्त शासन को व्यवस्थित करना तथा सल्तनत के प्रति सम्मान और भय उत्पन्न करना भी अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था।

उत्तर भारत के राजपूत राज्य पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय का महत्वपूर्ण स्थान है। अलाउद्दीन खिलजी अपनी कठिनाइयों को अनुकूल सिद्ध किया, उसने प्रजा को वश में किया, सिंहासन के दावेदारों को नष्ट किया, षडन्त्रकारी और विद्रोही सरदारों का दमन किया दूरस्थ प्रान्तों में अपनी संज्ञा स्थापित की, एक कठोर शासन व्यवस्था स्थापित किया, नवीन राज्यों को जीता अथवा उन्हें अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। अलाउद्दीन की आकांक्षाएं साम्राज्यवादी थीं। स्वतंत्र राज्यों को अधिक से अधिक संख्या में अपने राज्य में सम्मिलित करना अथवा उनको अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करना उसकी साम्राज्यवादी नीति का लक्ष्य था। उतने उत्तर भारत के राज्यों में जैसलमेर और गुराज, रणथम्भौर, बंगाल, चित्तौड़ मालवा, सिवाना, जालौर इत्यादि उत्तर भारत के राजपूत राज्यों से संघर्ष कर अपनी अधीनता स्वीकार करवायी।

उत्तर भारत के राज्यों के प्रति उसकी नीति राज्य विस्तार की थी जबकि दक्षिण भारत के राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार कराकर और वार्षिक कर लेकर ही वह सन्तुष्ट हो गया।[1] अलाउद्दीन की सबसे पहली आवश्यकता और कठिनाई सिंहासन पर अपनी स्थिति को दृढ़ करने की थी। उसने खुले तौर पर और अत्यधिक उदारता से जनसाधारण में धन

बांटा जिससे व्यक्ति बहुत शीघ्र ही उसके चाचा के वध की घटना को भूल गये। उसने अपने वफादार सरदारों को बड़े–बड़े पद और सम्मानित उपाधियां जलालुद्दीन के वध के पश्चात ही प्रदान कर दी थी। दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात जो जलाली सरदार स्वेच्छा से उसकी सेवा में आ गये, उन्हें भी उसने उनके पदों पर रहने दिया अथवा इन्हें अच्छे पद दिये जिससे वे सन्तुष्ट हो जायें। अलाउद्दीन राज्यारोहण के बाद सर्वप्रथम सिन्ध और मुल्तान की विजय की। जो राजपूतों के उत्तर भारत के राज्य थे। उसने स्वर्गीय सुल्तान जलालुद्दीन के दो पुत्रों अर्कली खां और रूकनुद्दीन इब्राहीम तथा उनके सहयोगी अहमद चप की शक्ति को कुचलने के लिए जफर खां और उलगु खां के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी।[2] तीस चालीस हजार की सेना लेकर वे नवम्बर सन् 1296 में मुल्तान रवाना हो गये।[3] वहीं पहुंचकर उन्होंने तुरन्त ही शहर का घेरा डाल दिया। अर्कली खां को इस संकट का पूर्व ज्ञान था उसने उसका सामना करने के लिए उचित तैयारी कर ली थी। किन्तु दीर्घकालीन घेरे के कठिनाई को सहन करने में अपने को असमर्थ पाकर शहर के कोतवाल ने अन्य स्थानीय कुलीनों के सहयोग से लगभग दो माह के मुकाबले के पश्चात ही साथ छोड़ दिया। अर्कली खां ने सफलता की सारी आशाएं त्याग दी और उसने मुल्तान के शेख रुकनुद्दीन से अपनी ओर से मध्यस्थता करने की प्रार्थना की। शेख ने प्रतिद्वन्दी दलों में समझौते की शर्तों की व्यवस्था की। वह राजकुमारों को उलुग खां के शिविर में ले गया,

जहां उनके साथ सम्मान का व्यवहार किया गया। विजय का समाचार दिल्ली को भेज दिया गया जहां खूब खुशियां मनायी गयी। विजय सेना नायक दोनों बन्दी राजकुमारों, उनके परिवारों और अमीरों के साथ राजधानी को रवाना हुए। अबूहार में उनकी भेंट नुसरत खां से हुई, जिसके पास विभिन्न बंदियों को क्या सजा देना है इस सम्बन्ध में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के आदेश थे। जिसके अन्तर्गत अर्कली खां और इब्राहिम, मलिक अहमद चप और जलालुद्दीन का दामाद मलिक अलगू को निर्दयता पूर्वक अन्धा कर दिया गया। उनके परिवार उनसे अलग कर दिये गये और उनके सामान और गुलामों पर अधिकार कर लिया गया। बाद में अर्कली, इब्राहिम और अर्कली खां के दो पुत्र हांसी के कोतवाल को सौंप दिये गये जिसने शीघ्रता से उन्हें मौत के घाट उतार दिया।[4]

मुल्तान की विजय के पश्चात ही नुसरत खां को वजीर (1297) नियुक्त किया गया। उसने जलालुद्दीन के अमीरों की और उन अमीरों और मालिकों की सम्पत्ति जब्त कर ली गयी, जिन्हें अलाउद्दीन के राज्यारोहण के प्रारम्भिक दिनों में उदारता से पुरस्कार दिया गया था। उसने धन चूसने और सम्पत्ति जब्त करने के ऐसे नवीन साधन निकाले कि बहुत थोड़े समय में ही उसने शाही कोषागार में विशाल राशि जमा कर ली। इसी समय अलाउद्दीन ने अपने परामर्शदाता, इतिहासकार, जियाउद्दीन बरनी के चाचा अलाउलमुल्क को बुलावा भेजा। अलाउल्मुल्क अनेक सरदारों और अमीरों के साथ दरबार पहुंचा और उसने सुल्तान को

सारे हाथी और कोष, जो सुल्तान ने कड़ा में उसके पास छोड़ दिये थे, समर्पित कर दिया और कड़ा का शासन नुसरत खां को सौंप दिया गया।

मुल्तान की विजय के पश्चात अलाउद्दीन की सेना ने सिन्ध पर भी अधिकार कर लिया। उलुग खां को सिन्ध और मुल्तान का प्रान्तपति नियुक्त किया गया।[5]

तथाकथित अविनीत तत्व का दमन करने के पश्चात अलाउद्दीन खिलजी देश के स्वतंत्र प्रदेशों को अधीन करने की सोचने लगा। मुल्तान के अभियान के पश्चात वह गुजरात के सुन्दर व समृद्ध राज्य पर आकर्षित हुआ। गुजरात का राज्य मध्यकाल में भारत के अत्यन्त उपजाऊ क्षेत्रों में से एक था। कृषि सम्पत्ति के उत्पादन में उसका स्थान संभवतः दो आब के पश्चात ही आता था। उसके प्रमुख बन्दरगाह कैम्बे का व्यापार अरब और इरान जैसे उत्तरी देशों से होता था। उत्तर भारत में मुस्लिम आक्रमणकारियों के प्रवेश के पूर्व इस प्रदेश में अरब व्यापारी बस गये थे। कैम्बे के सम्बन्ध में वस्साक लिखता है : ''इसकी वायु शुद्ध है पानी स्वच्छ है और आस पास के प्रदेश के दृश्य और भवन दोनों ही मोहक हैं।''[6]

गुजरात एक समृद्धिशाली राज्य था। मुसलमान आक्रमणकारियों ने समय पर उसके विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता प्राप्त की थी परन्तु वे उसे विजय करने में न केवल विफल हुए थे, अपितु एक दो अवसर पर पराजित भी हुए थे उस समय उसकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पातन) थी और बघेला शासक कर्ण उसका शासक था।[7] सन् 1297 ई. में अलाउद्दीन

खिलजी ने उलुग खां और नुसरत खां के नेतृत्व में गुजरात पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। गुजरात एक समृद्ध एवं उर्वरा राज्य था। इस राज्य के तटीय बन्दरगाह अत्यन्त समुन्नत थे और इसका विदेशी व्यापार भी काफी विकसित था। गुजरात के बन्दरगाहों को अपने अधीन करके अलाउद्दीन वहां के विदेशी व्यापार से सल्तनत को समृद्ध करना चाहता था। गुजरात में सदियों से चालुक्य सोलंकी और राजपूत शासक राज्य कर रहे थे।[8]

गुजरात का पूर्व इतिहास अंधकार से परिपूर्ण है। मौर्य इसके प्रथम शासक थे, वल्लभों ने इस पर पांचवीं से आठवीं शती तक राज्य किया तदन्तर चन्द्रव वंश आया, जिसके उत्तराधिकारी चालुक्य या सोलंकी हुए। भीमदेव प्रथम (1022–64 ई0) के समय में महमूद गजनवी ने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर को लूटा था।[9]

अलाउद्दीन के आक्रमण के समय गुजरात का शासक कर्ण था। अभियान का नियन्त्रण दो विश्वस्त सेना नायकों उलुग खां और नुसरत खां को सौंपा गया। आक्रमण दो दिशाओं से हुआ। उलुग खां ने सिन्ध की ओर से और नुसरत खां ने राजस्थान की ओर से आक्रमण किया।[10]

गुजरात पहुंचने पर उलुग खां ने सदैव की भांति लूटमार का कार्य आरम्भ किया। अन्हिलवाड़ का सुन्दर और सम्पन्न नगर लूट लिया गया। राजा कर्ण जो दो वर्ष पूर्व ही सारंगदेव के पश्चात् गद्दी पर बैठा था, पर अचानक ही आक्रमण कर दिया गया और वह देवगिरि की ओर भाग गया

साथ में अपनी पुत्री देवल देवी को भी ले गया। इस भागदौड़ में वह अपने रनिवास की स्त्रियां और राजकोष को अपने साथ न ले जा सका। उसकी मुख्य रानी कमला देवी शत्रु के हाथ में पड़ गई। जिसे शत्रुओं ने पकड़कर दिल्ली भेज दिया और सुल्तान ने उसके साथ शादी कर ली।

सेना का एक भाग राजा का पीछे करने के लिए चला और दूसरे ने सोमनाथ मन्दिर की ओर प्रस्थान किया। 1026 ई. में महमूद गजनवी द्वारा ध्वस्त कर दिये जाने के कारण यह मन्दिर कुमारपाल (1143–74) द्वारा पुनर्निर्मित किया गया था। इस प्रसिद्ध मन्दिर की सम्पति अधिकृत कर ली गयी। उसकी मूर्ति खण्डित कर दी गई और उसे दिल्ली ले जाया गया। खिलजी सेनापतियों ने अन्हिलवाड़ा, सूरत तथा अन्य प्रसिद्ध नगरों को जी भर कर लूटा। हजारों की संख्या में लोग हताहत हुए और अनेक मन्दिर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये।

नुसरत खां एक टुकड़ी के साथ कैम्बे (मुस्लिम वृत्तांत लेखकों का कम्बायत) के सुन्दर और सम्पन्न बन्दरगाह को लूटने के लिए रवाना हुआ। उसने सोना चांदी जवाहरातों और अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के रूप में नगर के व्यापारियों और अन्य धनाढ्य लोगों से प्रचुर धन वसूल किया। यहीं से काफूर नामक गुलाम विजेता के हाथ लगा। जो बाद में चलकर अलाउद्दीन का प्रधानमंत्री बना। बरनी नहरवाल और समग्र गुजरात के विनाश की पुष्टि करता है।[11] जबकि इसामी कहता है कि जहाँ तक हाथ

पहुँच सकते थे, वहाँ लूटमार करके भी सन्तुष्ट न होकर सैनिक व कोष भी खोद कर ले गये जिसे गुजरात के लोगां ने भूमि के भीतर छिपाया था।[12]

गुजरात को पूर्णतः लूटने और नष्ट करने के पश्चात वहां एक सेना छोड़कर विजयी सेनानायक दिल्ली की ओर लौटे। उनकी लूट सामग्री ने कर्ण की रुपवती रानी कमला देवी, अनेक बन्दी स्त्री पुरुष, काफूर हजारदीनारी और विशाल मात्रा में सोना जवाहरात और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं सम्मिलित थी। इसके अतिरिक्त पर्याप्त सैनिक ने अपने लिये धन लूटा था।

गुजरात की विजय के पश्चात सुल्तान का ध्यान राजस्थान के स्वतन्त्र राजपूत नरेशों की ओर आकृष्ट हुआ। गुजरात से ही सटकर उत्तरी पश्चिमी राजस्थान में जैसलमेर के राजपूत दूदा का राज्य थां उसने अपने राज्य का काफी विस्तार कर रखा था। दूदा ने अजमेर पर आक्रमण करके अन्ना सागर झील के पास से सुल्तान की सेना के घोड़ों का अपहरण कर सुल्तान को कुपित कर दिया। खिलजी सेना ने 1299 ई0 में जैसलमेर पर आक्रमण करके दूदा और उसके सहयोगी तिलक सिंह की हत्या कर दी और इस राज्य को जीत लिया।[13]

राजपूतों के राज्य रणथम्भौर पर अगला आक्रमण किया गया। रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ़ था। सुल्तान जलालुद्दीन उसे विजय करने में असफल रहा था। और यहां का शासक पृथ्वीराज

चौहान का वंशज राणा हम्मीरदेव ने अपने राज्य और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता पायी थी।

जैसलमेर का आक्रमण रणथम्भौर के आक्रमण की तुलना में एक छापा मात्र था। वास्तव में रणथम्भौर पहली रियासत थी जिसे राजपूतों के साथ शक्ति आजमाने के लिए चुना गया था, एक तो दिल्ली से उसकी निकटता के कारण, दूसरे उसे अधिकृत करने में जलालुद्दीन की असफलता के कारण और तीसरे उसकी प्रसिद्ध दुर्भेधता के कारण। इनके अतिरिक्त एक सुविधा जनक बहाना और दलील भी थी। जालौर के निकट हुए विद्रोह के नेता मुगल विद्रोही मुहम्मद शाह और उसके भाई केहब्रू को रणथम्भौर के राणा ने शरण दी थी। यद्यपि कोई भी समकालीन इतिहासकार इस बात को आक्रमण का कारण नहीं कहता तथापि परिस्थितिजनक साक्ष्य और उसका समर्थन करने वाली बाद की कृतियाँ इस अनुमान को निश्चिततः दृढ़ बनाती है।[14]

रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ़ था।[15] अलाउद्दीन के आक्रमण के समय रणथम्भौर पर चौहान शासक हमीर देव का शासन था, जो इतिहास प्रसिद्ध पृथ्वीराज्य का सीधा वंशज था। मुस्लिम आक्रान्ताओं ने रणथम्भौर पर अधिकार जमाने का कई बार प्रयत्न किया था। किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली थी। कुतुबुद्दीन ऐबक ने इस पर 1209 में आक्रमण किया था और 1226 में इल्तुतमिश ने उसे अधिकृत कर लिया था किन्तु शीघ्र बाद ही वह पुनः स्वतंत्र हो गया था। 1291 ई0 में

जलालुद्दीन ने उसके विरुद्ध अभियान किया था, किन्तु दुर्ग को अजेय पाकर उसने उसे अधिकृत करने का विचार त्याग दिया था। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी दूसरी ही धातु का बना था।

सन् 1300 में उसने अपने दो सेनानायकों बयाना के प्रांतपति उलगू खां और कडा के प्रांतपति नुसरत खां को अपनी सेनाओं के साथ रणथम्भौर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। रास्ते में झाईन क्षेत्र के राजपूत प्रधानों ने साहनी के नेतृत्व में शाही सेना का सामना किया। साहनी एक अत्यन्त साहसी एवं वीर योद्धा था। खुसरो ने उसे लोहे का पर्वत कहकर पुकारा है। दोनों सेनाओं के बीच घमासान लड़ाई हुई, किन्तु अन्त में साहनी पराजित हो गया। खिलजी सैनिक झाईन में प्रवेश कर गये। अलाउद्दीन भी झाईन जा पहुंचा। विजयी सेना ने झाईन के राजभवन, दुर्ग तथा मन्दिरों को लूटा और उन्हें धराशायी कर दिया। झाईन से सुल्तान अपने साथ दो विशाल पीतल की मूर्तियों को जो प्रत्येक एक सहस्र मन के लगभग थी तुड़वाकर दिल्ली ले गया। और उनके टुकड़ों को मस्जिदों के द्वार पर पैरों से रौंदे जाने के लिए फेंक दिया।[16]

झाईन पर सुल्तान का अधिकार हो गया। झाईन से सुल्तान की विजय सेना ने रणथम्भौर की ओर कूच की। सुल्तान की सेना ने जल्द ही दुर्ग को जा घेरा। इसी समय नुसरत खां जब एक दिन दुर्ग के निकट पाशेब बांधवाने तथा गरमच लगवाने में व्यस्त था, दुर्ग के भीतर से फेंके गये एक पत्थर से घायल हो गया, और उसकी मृत्यु हो गयी। राजपूतों के

प्रतिरोध और वीरता के सामने उलुग खां की एक न चली और उसे घेरा तोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस असफलता की सूचना पाकर अलाउद्दीन स्वयं रणथम्भौर पहुंचा और उसने पुनः दुर्ग को घेर लिया।

खिलजियों ने सालभर दुर्ग को घेर कर रखा किन्तु हम्मीर ने आत्मसमर्पण नहीं किया। जब सुल्तान न देखा कि शास्त्र बल से असफलता प्राप्त नहीं कर सकता है तो उसने कूटनीति और विश्वासघात का सहारा लिया। सुल्तान ने हम्मीर देव के मन्त्री रणमल को धन का लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया। रणमल ने दुर्ग विजय के सारे रहस्य सुल्तान को बता दिये। सुल्तान ने इस प्रकार अन्त में रणथम्भौर के दुर्ग को जीत लिया। विश्वासघाती एवं विद्रोही रणमल भी अलाउद्दीन की धूर्तापूर्ण नीति का शिकार हुआ और उसका वध कर दिया गया। युद्ध में मंगोल सरदार और मुहम्मद शाह भी पकड़ा गया और उसको हाथी के पैरों तरों कुचल कर मार डाला गया।

तारीख–ए–भलाई और हम्मीर महाकाव्य नामक, ग्रन्थों में हम्मीर देव और उसके परिवारजनों की जौहर द्वारा मृत्यु का मार्मिक वर्णन किया गया है। विजय के पश्चात राजभवन एवं दुंर्ग को भूमिसात् कर दिया गया। हम्मीर देव के राज्य को सल्तनत में आत्मसात कर लिया गया और रणथम्भौर का शासन उलुग खां को सौंप कर अलाउद्दीन दिल्ली लौट आया।

जिस समय रणथम्भौर का अभियान चल रहा था उसी समय उमर और मंगू के विद्रोह भी हुए जब घेरा बिना किसी निर्णय के चल रहा था, सुल्तान के पास एक अन्य विद्रोह का समाचार पहुँचा। राजधानी से उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उसके दो भानजों (बहिन के पुत्रों) उमर खां और मंगू खां ने, जो क्रमशः बदायूं और अवध के प्रांतपति थे, अवध में विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का ठीक–ठीक उद्देश्य ज्ञात नहीं है बहुत संभव है कि सुल्तान के दुष्ट स्वभाव ने उसके विरुद्ध देश के असंतुष्ट तत्वों को विद्रोह करने के लिए उकसाया हो। इसमें उस काल के उत्तराधिकार की अनिश्चित पद्धति भी जोड़ी जा सकती है। साथ ही इकत खां के विद्रोह ने इन दो राजकुमारों को भी अपना भाग्य आजमाने के लिए प्रोत्साहित किया होगा। सुल्तान ने तुरन्त ही कुछ अनुभवी अमीरों को भेजा और विद्रोह को शीघ्र ही दबा दिया। दोनों अनुभवहीन युवक बन्दी बनाकर रणथम्भौर भेज दिये गये जहां सुल्तान की आज्ञा से उसके सामने ही उनकी आंखें तरबूजों की फाकों के समान तराश डाली गयी। उनके साथियों और परिवार वालों को परलोक पहुंचा दिया गया।[17] उमर और मंगू के निष्फल विद्रोह के शीघ्र पश्चात शाही शिविर में दिल्ली के एक गम्भीर विद्रोह का समाचार पहुंचा।

यह विद्रोह प्रभुसत्ता पुनः प्राप्त करने के इलबारियों के अनेक प्रयत्नों में से एक था। मुख्य षडयंत्रकारी एक हाजी[18] था। जो दिल्ली के भूतपूर्व कोतवाल मलिक फखरूद्दीन का एक प्रमुख दास था। हाजी मौला अत्यन्त

क्रूर, ढीठ और दुराचारी प्रवृत्ति का था। विद्रोह के समय हाजी "रतोल"[19] की खालसा भूमि का अधीक्षक था। और दिल्ली का कोतवाल तिरमिजी था। ऐसा प्रतीत होता है कि तिरमिजी बहुत रुखे और ढीठ स्वभाव का था और दिल्ली के लोगों को उससे बहुत अरुचि हो गयी थी। उस समय वह बदायूं दरवाजे की मरम्मत में व्यस्त था और निर्माण कार्य का निरीक्षण करने हेतु वह समीप के ही एक छोटे से खेमें में रहने लगा था। उन दिनों सीरी के मैदान में एक नये किले का निर्माण हो गया था। अतः वहां अस्थायी झोंपड़े बनाए गये थे और सीरी का कोतवाल अलाउद्दीन अयाज वहां ठहरा हुआ था। इस प्रकार दोनों कोतवाल व्यस्त थे एक बदायूं दरवाजे में और दूसरा सीरी में और सुल्तान दूर रणथम्भौर में था। इसी समय रणथम्भौर में सेना के संकट के समाचार लगातार पहुंच रहे थे और ऐसी अफवाह फैल गई कि सैनिक अपना काम छोड़ने के लिए उत्सुक थे किन्तु सुल्तान के कठोर दण्ड के भय से चुप थे। इस क्षण को उपयुक्त समझकर और यह सोच कर कि संकट के कारण शिविर के और राजधानी के लोग उसे अपना समर्थन देंगे। हाजी मौला ने खुला विद्रोह कर दिया मई 1301 में एक दिन मध्यान्ह को चिलचिलाती धूप में जबकि अधिकांश लोग दोपहर की निद्रा ले रहे थे और बहुत कम लोग मार्गों पर आ जा रहे थे, हाजी मौला चार सशस्त्र व्यक्तियों के साथ तिरमिजी के निवास पर गया और यह कहते हुए कि वह सुल्तान के पास से एक समाचार लाया है उसे बाहर आने के लिए पुकारा। कोतवाल बिना किसी खतरे का संदेह

किये अपने घर से बाहर आया और तुरन्त ही उसका सर काट डाला गया। वहां उपस्थित सब लोग उस समय बिल्कुल भौचक्के रह गये जब हाजी मौला ने अपनी बाहों के नीचे से एक जाली अधिकार पत्र निकाला और लोगों को बताया कि उसने सुल्तान की आज्ञा से कोतवाल की हत्या की है। तदन्तर अपने तिरमिजी के अधीन जितने द्वार थे सबको बन्द करने की आज्ञा दी।

कोतवाल की हत्या का समाचार दावानल की भांति फैल गया और नगर निवासी इतने भयभीत हो गये कि सारे नगर में प्रत्येक द्वार बन्द कर लिया गया। तिरमिजी को समाप्त करने के पश्चात हाजी ने नये किले के कोतवाल अलाउद्दीन अयाज को वैसे ही जाली अधिकार पत्र के बहाने मारने का प्रयत्न किया। किन्तु अयाज को हाजी के व्रिदोह की बात ज्ञात हो चुकी थी। और जब उसे हाजी ने बाहर आने और शाही आदेश सुनने के लिए बुलाया तो उसने इन्कार कर दिया। उसी समय उसने निर्मित हो रहे सीरी के दुर्ग की सुरक्षा के लिए कदम उठाया, किन्तु अब हाजी मौला का दिल्ली पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो चुका था। उसने राज्य के सारे बन्दी मुक्त कर दिये, जिनमें से कुछ उसके साथ हो लिए। रणथम्भौर के समर्पण के बाद मूर्तिभंजन और लूट का चिरपरिचित दृश्य देखने में आया। अनेक मन्दिर जिनमें मुख्य हरदेव का मन्दिर था भूमिसात कर दिये गये। नगर के अनेक मन्दिर और भवन नष्ट कर दिये गये और कुफ्र का गढ़ इस्लाम का सदन हो गया।[20]

रणथम्भौर का किला और साईं का प्रदेश उलुग खां की देखरेख में छोड़ दिये गये और सुल्तान दिल्ली लौट गया। अलमास बेग ने रणथम्भौर पर लगभग छः माह तक शासन किया, तत्पश्चात वह दिल्ली के लिए रवाना हो गया और मार्ग में अचानक उसकी मृत्यु हो गयी। इसामी के अनुसार उसकी मृत्यु विष से हुई और वह लिखता है कि जब उलुग खां ने इकतखां के विद्रोह के समय सुल्तान की प्राणघातक चोटों के सम्बन्ध में सुना तो उसने टीका की थी कि यदि सुल्तान की मृत्यु हो जाती है तो उसका भाई सिंहासन की पूर्ति करने के लिए जीवित है। अलाउद्दीन ने अपने गुप्त सेवक से इस सम्बन्ध में सुन लिया था। वह अपने भाई से आशंकित हो उठा और उसने आदेश दिया कि उलुग खां को विष दे दिया जाय।[21]

रणथम्भौर से लौटने के पश्चात अलाउद्दीन ने दिल्ली के आस–पास आखेट में अपना समय व्यतीत किया। संभवतः इसलिए कि वह राजधानी में हाल ही में हुए विभिन्न विद्रोहों से अत्यन्त भयभीत हो गया था। यद्यपि समकालीन लेखक उसकी भय की भावना का उल्लेख नहीं करते और राजधानी में प्रवेश करने मे सुल्तान की हिचक का कारण यह बताते हैं कि वह राजधानी के निवासियों से नाखुश और असन्तुष्ट था उन्होंने निष्ठाहीन व्यवहार प्रदर्शित किया था। तथापि यह स्पष्ट है कि अलाउद्दीन ने नगर में जहां उसे अपदस्थ करने के कई प्रयास हो चुके थे – प्रवेश करने के पूर्व अपने जीवन की सुरक्षा के प्रति स्वयं को

आश्वस्त कर दिया था। यहां तक कि उसके पूर्वगामी शासक जलालुद्दीन ने भी इन्हीं परिस्थितियों में दिल्ली में प्रवेश नहीं किया था। अलाउद्दीन ने दिल्ली के अनेक गणमान्य व्यक्तियों को निष्कासित कर दिया था और उन सब षडयंत्रकारियों को दण्डित किया जो मलिक हमीदुद्दीन और उलुग खां के कठोर न्याय से वंचित रह गये थे।

तदन्तर सुल्तान ने राजद्रोह की जड़ को ही उखाड़ फेंकने की कमर कस ली। उसने अनेक भूमि अनुदान जब्त कर लिए, मदिरा का विक्रय और प्रयोग निषिद्ध कर दिया। यहां तक कि अमीरों और प्रभावशाली लोगों के सामान्य समागम में भी रोक लगा दी। इन सब विभिन्नतापूर्ण और कठोर नियमों का वांछनीय प्रभाव पड़ा और भविष्य में दिल्ली में कोई गंभीर विद्रोह नहीं हुआ। घर में सुरक्षित होकर सुल्तान अब पुनः एक बार स्वतंत्र राज्यों को अधीन करने की सोच सकता था।

अभियानों का क्रम आगे बढ़ता रहा जिसमें बंगाल का निष्फल अभियान का वर्णन अत्यन्त तर्कसंगत है। जियाउद्दीन बरनी के अनुसार जिस वर्ष चित्तौड़ का अभियान हुआ, उसी वर्ष गाजी मलिक के पुत्र मलिक जूना, और कड़ा के प्रांतपति तथा नुसरत खां के भतीजे मलिक झूझू के अन्तर्गत एक सेना वारंगल को भेजी गई।[22]

सुल्तान ने, सेनाध्यक्षों के अन्तर्गत चुने हुए सैनिक रखे और उन्हें बंगाल और उड़ीसा होते हुए पूर्वी मार्ग ग्रहण करने का आदेश दिया गया। सर वुल्जले हेग का भी यही विचार है कि बारंगल को एक अभियान भेजा

गया था। वे लिखते हैं कि कुछ अस्पष्ट कारणों से यह अभियान काकतीय राजाओं की राजधानी वारंगल को, बंगाल और उड़ीसा होकर जाने वाले उस मार्ग से चला जो उस समय अन जाना था।[23]

1302 ई. में जबकि अभियान भेजा गया था, चित्तौड़, जालौर, सेवाना, मालवा, बिहार, बंगाल और उत्तर भारत में ही अनेक राज्य मुस्लिम शासन के बाहर थे। यह विस्मयकारी है कि अलाउद्दीन ने सहसा तेलंगाना की विजय का विचार किया जबकि अधिकांश उत्तरी भारत अभी भी अविजित था। दूसरे अलाउद्दीन ने 1308 ई. के पश्चात् ही दक्कन के राज्य विजित किए, जब लगभग, पूरा उत्तरी भारत अधिकृत कर लिया गया था।

सन् 1302 -- 03 ई. में यह प्रांत उथल–पुथल से गुजर रहा था। बलबन के पुत्र सुल्तान नासिरुद्दीन ने अपने स्वयं के खुतबे और सिक्कों के साथ बंगाल पर स्वतंत्र रुप से शासन किया था। जबकि उसका पुत्र कैकुबाद दिल्ली का सुल्तान था। यह प्रांत खिलजी क्रांति से प्रभावित न हुआ और न जलालुद्दीन ने 1290 में अपने सिंहासनारोहण के पश्चात इस सुदूर प्रदेश के मामलों में हस्तक्षेप किया था।

कर्नल हेग का विचार है कि नासिरूद्दीन महमूद की 1290 में मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसका दूसरा जीवित पुत्र रुकनुद्दीन कैकाउस गद्दी पर बैठा यद्यपि उसने शाही पदवी का प्रयोग किया और अपने नाम के सिक्के ढलवाए, वह दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के प्रति

भक्ति रखता था।[24] दूसरे सम्बन्धी साक्ष्य प्रकट करते हैं कि रुकनुद्दीन ने 1292 से 1296 तक राज्य किया, क्योंकि 665 के बाद के उसके किसी सिक्के का अस्तित्व नहीं पाया गया। उसके जीवन या उसकी मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में तब तक हमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता जब तक कि हम 1301–02 में लखनौती में शम्सुद्दीन फिरोज को सत्तासम्पन्न नहीं पाते। वास्तव में इस काल का बंगाल का इतिहास अंधकार से ढका है और यह जानना कठिन है कि रुकनुद्दीन की मृत्यु 1301–02 ई. में हुई थी वह अपने भाई शम्सुद्दीन फिरोज द्वारा जिसने अपने को पश्चिमी बंगाल में प्रतिस्थापित कर लिया, निष्कासित कर दिया गया।[25]

शम्सुद्दीन के सम्बन्ध में भी इसके अतिरिक्त कुछ ज्ञान नहीं है कि उसके सिक्के जो 1302 से 1321 के मध्य के है, इस काल में लखनौती पर उसका अधिकार प्रकट करते हैं। सुनरगांव में ढाले गये उसके सिक्के बंगाल के पूर्वी प्रान्तों पर भी उसका अधिकार सिद्ध करते हैं।[26]

अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली सल्तनत से बंगाल का स्वतंत्र हो जाना कदापि सहन न कर पाया होगा। वास्तव में शासक होने के पहले ही बंगाल पर उसकी आंख जमग गयी थी। यह सोचकर कि यदि जलालुद्दीन के विरुद्ध उसकी योजना में उसे सफलता न मिली, तो वह देवगिरि से लौटने पर बंगाल पर अधिकार करने की तैयारी करने के लिए जफरखां को भेद देगा।[27]

इस अभियान का कोई विस्तृत वर्णन जिलाउद्दीन और फरिश्ता ने नहीं किया। उनके वर्णनों से यह भी स्पष्ट नहीं है कि सेना कभी बारंगल पहुंची भी या नहीं। सारांश यह है कि अभियान पूर्णतः असफल हुआ मलिक जूना तथा मलिक झूझू अपनी तहस नहस सेनाओं के साथ सुल्तान से मिलने राजधानी की ओर वापस लौटे, किन्तु बदायूं के आस–पास उन्हें रोक लिया गया, क्योंकि कुतुलुग ख्वाजा दिल्ली पर आक्रमण कर रहा था। बंगाल में शम्सुद्दीन फिरोज सदैव के समान सुरक्षित रहा 1321 तक सत्ता का उपभोग करता रहा और ऐसा प्रतीत होता है कि वारंगल इस अभियान से एकदम अछूता रहा। डॉ0 के.एस. लाल ने यह विचार व्यक्त किया है कि 1303 ई. में बारंगल पर किया गया आक्रमण वस्तुतः बंगाल पर किया गया आक्रमण था, जहां शम्सुद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया और अपने नाम के सिक्के चलाये थे, इस आक्रमण का कोई परिणाम न निकला क्योंकि वारंगल में मुस्लिम सेना की पराजय हुई और उसे वापस लौटना पड़ा, फलस्वरूप 1324 ई. तक बंगाल स्वतंत्र रहा।[28]

सफलता मनुष्य को प्रोत्साहन दिलाती है। वही अलाउद्दीन खिलजी के साथ भी हुआ। रणथम्भौर की सफलता से उत्सुक अलाउद्दीन ने बंगाल की ओर एक सेना भेजी और स्वयं राजस्थान के सर्वाधिक प्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड़ के लिए चल पड़ा।[29] राजस्थान में रणथम्भौर के पश्चात राजपूतों की एक दूसरी बड़ी शक्ति चित्तौड़ में विद्यमान थी। एक ऊंची पहाड़ी पर बना हुआ चित्तौड़ का किला मेवाड़ में गुहिलौत राजपूतों का

एक शक्तिशाली राज्य था। मेवाड़ का शासक प्रतापी राणा रतन सिंह था। राजस्थान के प्रमुख राज्यों में मेवाड़ का अपना विशिष्ट महत्व था तथा उन दिनों यह राजपूतों का सर्वशक्तिशाली राज्य था। अलाउद्दीन के पूर्व किसी भी तुर्क शासक ने मेवाड़ के राज्य को जो काफी विस्तृत था तथा पर्वत मालाओं और बीहड़ जंगलों के कारण वाह्य आक्रमणों से सुरक्षित था, नहीं ललकारा था। चित्तौड़ का दुर्ग अपनी भव्यता एवं अजेयता के लिए प्रसिद्ध था। यह एक विशाल ऊँची पर्वत श्रेणी के शिखर पर स्थित था तथा तीन ओर से संघन जंगलों और अभेद्य पर्वतीय शृंखलाओं से घिरा हुआ था। मेवाड़ की स्वतंत्रता सुल्तान की आंखों में कांटे की तरह चुभ रही थी।[30]

चित्तौड़ का किला एक पहाड़ी पर आस पास के प्रदेश से 500 फुट की ऊँचाई पर स्थित है। शिखर पर यह पहाड़ी साढ़े तीन मील लम्बी और बीच में लगभग 1200 गज चौड़ी है। धरातल पर इसकी परिधि आठ मील से अधिक है, और यह गोली मारने के लिए बने छिद्रों वाली दृढ़ सुरक्षा दीवार से घिरा है। जबकि इसकी ऊंचाई चार से पांच सौ फुट तक है। यह मौर्य राजा चित्रांग या चित्रांगद द्वारा बनवाया गया था।

आठवीं शती के पश्चात यह मेवाड़ के गुहिलों की राजधानी थी। मालवा के मुंज परमार द्वारा गुहिलों से इसे छीन लिए जाने के पश्चात अल्पकाल के लिए इस पर परमारों का राज्य रहा। इसके पश्चात इसका इतिहास बहुरंगा रहा, जिसमें गुजरात ने प्रमुख भाग अदा किया अन्ततः

चित्तौड़ पुनः गुहिल राजपूतों के हाथ में चला गया और उनके हाथ में सवा सौ वर्षों तक अर्थात 1303 ई. तक रहा। जबकि अलाउद्दीन के आक्रमण ने इसकी राजनैतिक स्वतंत्रता और शान्तिमय जीवन का अन्त कर दिया।[31]

राजपूतों पर मुस्लिम आक्रमण बहुधा होते रहे। राजस्थान के अन्य किलों के समान चित्तौड़ ने भी 1303 ई. के पूर्व कुछ आक्रांताओं को विफल कर दिया था। चचनामा के अनुसार 631 ई. में सिन्ध के सिंहासन पर चाच के आसीन होने के तुरन्त पश्चात् ही इस पर घेरा डाला गया। बाद में जैत्रसिंह के समय मेवाड़ पर 1222 और 1229 के मध्य इल्तुतमिश ने आक्रमण किया। किन्तु फारसी वृत्तान्तकार इस सम्बन्ध में मौन हैं।[32] यद्यपि वे जालौर मण्डौर और रणथम्भौर के विरुद्ध इल्तुतमिश के आक्रमण का उल्लेख करते हैं। इस मौन का कारण अभियान में सुल्तान की पराजय हो सकता है, जिसका राजपूत लेखों और चारण साहित्य में बारम्बार उल्लेख किया गया है। इल्तुतमिश द्वारा नागौद के विनाश के पश्चात चित्तौड़ मेवाड़ की स्थायी राजधानी हो गया।

फरिश्ता के अनुसार इसके पश्चात मेवाड़ पर दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने, जिसके विद्रोही भाई ने वहां शरण ले ली थी आक्रमण किया। पुनः 1299 में गुजरात जाते समय उलुगखां ने मेवाड़ प्रदेश पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया। अन्त में 1303 में चित्तौड़ को अपने इतिहास के एक महान घेरे का सामना करना पड़ा। सोमवार 28 जनवरी

1303 को अलाउद्दीन एक विशाल सेना लैकर चित्तौड़ विजय के लिए निकल पड़ा।[33]

इतिहासकार एवं कवि खुसरो ने जो इस अभियान में सुल्तान के साथ गया था, किले का उसके घेरे और उसके समर्पण का विस्तृत वर्णन किया है। चित्तौड़ पहुंचने पर सुल्तान ने गंभेरी और बेराच नदियों के बीच शिविर गाड़ दिये। सैनिकों ने सारे नगर को घेर लिया और सेना के दाहिने और बाएं पार्श्व किले के दोनों ओर हो गये।

सुल्तान ने अपना ध्वज चक्रवर्दी या चित्तौड़ नामक एक टेकरी पर गाड़ दिया, जहां वह अपना दरबार लगाता औ स्वयं घेरे की कार्यवाही का निर्देशन करता था। अलाउद्दीन के आक्रमण के सयम राणा समर सिंह का पुत्र और वीर जैत्र सिंह का पोता राणा रतन सिंह शासक था। वह 1301 ई0 में सिंहासनारूढ़ हुआ था। अमीर खुसरो के अनुसार चित्तौड़ का राणा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ था और हिन्दुस्तान के सब शासक उसकी श्रेष्ठता मानते थे।[34] किले की रोमांचकारी भव्यता का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि भीमकाय शिला को काट कर बनाया गया यह किला आश्चर्यजनक था और मंजनीक के प्रहारों के बावजूद भी उस पर थोड़ा भी प्रभाव नहीं पड़ा। वीर राजपूतों ने अपने वीर नेता रतनसिंह के अन्तर्गत आठ महीनों तक वीरता पूर्वक प्रतिरोध किया, किन्तु इसके पश्चात वे हार मान गये।

इन आठ महीनों में प्रयुक्त घेरे की विभिन्न कार्यवाहियों, भीषण युद्धों और युद्ध योजनाओं के सम्बन्ध में कोई समकालीन या पश्चातकालीन विश्वस्त वर्णन हमें उपलब्ध नहीं हैं।[35] घेरा दीर्घ कालीन रहा इससे निश्चित रूप से यह सिद्ध होता है कि किले में स्थित सेना अन्तिम दम तक किले की रक्षा करने के लिए कतिबद्ध थी। यह ज्ञात नहीं है कि पड़ोसी राजागण रतन की सहायतार्थ आए या नहीं किन्तु अनवरत प्रतिद्वंद्विताओं और राजपूताना की रियासतों की एक दूसरे के प्रति घोर उदासीनता को दृष्टिगत रखते हुए यह सरलता से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चित्तौड़ के नवारूढ़ शासक को अकेले लड़ना पड़ा। उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित संवत 1517 (1460 ई0) के एक शिलालेख में अंकित है कि चित्तौड़ का एक अधीनस्थ राजा सिसोदिया का महाराणा लक्ष्मी अपने सात पुत्रों सहित मुसलमानों (अलाउद्दीन के अन्तर्गत) से युद्ध करते हुए मारा गया।[36]

अतः स्पष्ट हो जाता है कि चित्तौड़ का युद्ध कितना भयानक था। दुर्ग के अन्तिम समर्पण के पूर्व राजपूत महिलाओं ने भूगर्भ में स्थित एक तहखाने में जो अभी भी विद्यमान है, जौहर की अग्नि प्रज्ज्वलित की और बन्दी होने या अपमान से अपनी रक्षा करने के लिए लपलपाती ज्वालाओं में स्वयं को भस्म कर दिया। कर्नल टाड उस दृश्य का हृदय विदारक वर्णन देते हैं जिसमें रतन सिंह की पत्नी सुन्दरी पद्मिनी के नेतृत्व में वीर

राजपूत महिलाओं के एक समूह ने स्वयं को जौहर की अग्नि में समर्पित कर दिया।[37]

एनल्स का लेखक लिखता है ''सुन्दरी पद्मिनी ने उस समूह का नेतृत्व किया, जिसमें वह समस्त नारी सौन्दर्य एवं यौवन सम्मिलित था, जिसका तातारों की काम पिपासा द्वारा लांछित होने का भय था इनको तहखाने में ले जाया गया और भस्मीभूत करने वाले तत्व (अग्नि) में अपमान से त्राण पाने के लिए भीतर छोड़कर द्वार बन्द कर लिया गया।[38] जौहर का वीभत्स कार्य सम्पादित हो जाने के बाद राजपूत योद्धाओं ने मुस्लिम आक्रांताओं से डटकर युद्ध किया। राजपूतों के वीरतापूर्वक प्रतिरोध ने सुल्तान को क्रुद्ध कर दिया था। अतः उसने जनता के सामान्य संहार की आज्ञा दे दी, जैसा कि ढाई शताब्दी बाद अकबर ने किया था।

अमीर खुसरो कहता है कि एक ही दिन में तीस हजार हिन्दू सूखी घास के समान काट डाले गये।[39] इस जघन्य हत्याकाण्ड के पश्चात निर्दयी सुल्तान चित्तौड़ में कुछ दिन रहा और मन्दिरों तथा कला के नमूनों को ध्वस्त करके उसने बर्बरता तथा विनाश के वे सब कार्य किये जिनके लिए एक धर्मान्ध उत्साह प्रेरित कर सकता था। चित्तौड़ का दुर्ग सुल्तान के ज्येष्ठ पुत्र खिज्रखां को सौंप दिया गया और चित्तौड़ का नाम बदलकर राजकुमार के नाम पर खिज्राबाद रखा गया। एक लाल चंदोबा जो युवराज को दिया जाता था, सोने की धातु का अंगरखा और दो ध्वज–एक श्वेत और दूसरा हरा राजकुमार को देकर, अलाउद्दीन शीघ्रता से दिल्ली की

ओर लौटा, क्योंकि उसे दिल्ली पर मुगल आक्रमण के सम्बन्ध में जानकारी मिली थी। रतन सिंह के अन्त के सम्बन्ध में इतिहासकारों में कुछ मतभेद है। नैनसी के अनुसार रतन सिंह सुल्तान अलाउद्दीन से युद्ध करते हुए मारा गया।

अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़ के आक्रमण और उस पर अधिकार के सम्बन्ध में रानी पद्मिनी की कथा ने एक अत्यन्त मनोरंजक कथा का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। पद्मिनी की कहानी का मुख्य आधार 1540 ई. में मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा विरचित काव्य–पुस्तक पद्मावत है। अमीर खुसरो ने सुलेमान और रानी शैबा के प्रेम प्रसंग का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया था और उसने संकेतों में अलाउद्दीन की तुलना सुलेमान से तथा पद्मिनी की तुलना शैबा से की थी। सम्भवतया उसी को आधार मानकर मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की रचना की और उसके आधार पर राणा रतन सिंह की रानी पद्मिनी की कहानी बनी। बाद में राजस्थान के अनेक कवियों ने उस पर गाथाएं लिखी तथा बहुत से इतिहासकारों ने उस कहानी को स्वीकार किया।[40] पद्मावत के अनुसार अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण करने का एक प्रमुख कारण राजा रतन सिंह की अत्यन्त सुन्दर और विदुषी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना था।

जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के किले को जीतने में असमर्थ रहा तब उसने यह शर्त रखीकी यदि उसे पद्मिनी की शक्ल दर्पण में दिखा दी जायेगी। तो वह वापस चला जायेगा। राणा ने इस शर्त को स्वीकार कर

लिया। परन्तु जब राणा दर्पण में रानी को दिखाकर अलाउद्दीन को उसके खेमे तक छोड़ने गया तो उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया। राजपूतों ने भी अलाउद्दीन के साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने सुल्तान को सूचना भेजी कि वे उसे पद्मिनी को देने को तैयार हैं उसके पश्चात् सशस्त्र राजपूतों को 1600 पालकियों में बैठाकर वे दिल्ली पहुंचे और रानी केवल एक बार राणा से मिलने की अनुमति मांगी। इस स्वीकृति के मिलने पर राजपूत राणा के पास पहुंचे। वहां उन्होंने अचानक आक्रमण करके राणा को छुड़ा लिया और रानी तथा राणा चित्तौड़ भाग गये। मार्ग में गोरा ने मुसलमानों का आक्रमण किया और बादल राणा तथा रानी को लेकर सुरक्षित चित्तौड़ पहुंच गया। उसके पश्चात रतनसिंह ने कुम्भलगढ़ के शासक देवपाल पर आक्रमण किया जिसने उसकी अनुपस्थिति में पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। इस युद्ध में राणा ने देवपाल को मार दिया परन्तु स्वयं घायल हो गया और कुछ समय पश्चात उसकी मृत्यु हो गयी।

रानी पद्मिनी राणा के शरीर के साथ सती हो गयी। अलाउद्दीन उसके पश्चात् चित्तौड़ पहुंचा और उसके किले को जीतने में सफलता प्राप्त की थी। पद्मावत की इस कहानी के विभिन्न स्वरूप हो गये। कुछ लेखकों के अनुसार राणा को दिल्ली नहीं ले जाया गया था बल्कि वह अलाउद्दीन के खेमे में ही कैद था, जहाँ से राजपूतों ने उसे छुड़ाया। इसी प्रकार पद्मिनी की कहानी में भिन्न–2 लेखकों तथा कवियों ने

भिन्न–भिन्न परिवर्तन कर दिये हैं। परन्तु क्या पद्मिनी की कहानी ऐतिहासिक तथ्य है? इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। डॉ0 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ0 बी0पी0 सक्सेना, डॉ0 के0एस0 लाल और डॉ0 कानूनगो इस कहानी की सत्यता में विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि तत्कालीन इतिहासकार इसामी, अमीर खुसरो, इब्नबतूता आदि, किसी ने इस कहानी का वर्णन नहीं किया है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस कहानी को पूर्णतया असत्य कहकर टाल देना उचित नहीं है। यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य इसे अभी तक सत्य प्रमाणित करने में असमर्थ है।

कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात् नग्न सत्य ये हैं कि सुल्तान अलाउद्दीन ने 1303 ई. में चित्तौड़ पर आक्रमण किया और आठ माह के विकट संघर्ष के बाद उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रांताओं से युद्ध करते हुए खेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियां जौहर की ज्वलाओं में समाधिस्थ हुई। उनमें संभवतः रतनसिंह की रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यों के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक संरचना है, और उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नहीं।[41]

जौहर सम्पन्न कर वीर राजपूतों ने शत्रु सेना के साथ भयंकर संग्राम किये। उन्होंने तुर्क सैनिकों के दाँत खट्टे कर दिये। अन्त में लड़ते–लड़ते उनमें से अधिकांश मृत्यु की गोद में सो गये और कुछ घायल होकर

रणक्षेत्र में गिर पड़े। यह चित्तौड़ का पुनः स्वतन्त्र होने के लिए संघर्ष था। राणा रतन सिंह युद्ध भूमि में वीर गति को प्राप्त हुए। युद्ध अत्यन्त भयानक और लोमहर्षक घटना थी। इस युद्ध में लगभग तीस हजार वीर राजपूत काम आये। तुर्क सैनिकों ने नगर और दुर्ग के भीतर प्रवेश कर उन्हें लूटा और विध्वंश किया। चित्तौड़ पर 26 अगस्त 1303 ई0 को सुल्तान का अधिकार हो गया। सुल्तान ने उसका नाम बदलकर खिज्राबाद रखा और उसके प्रबन्ध का भार खिज्र खां को दे दिया।

परन्तु विलासी राजकुमार खिज्र खां दुर्ग पर स्थायी रूप से दीर्घ काल तक अपना अधिकार नहीं रख सका। स्वतंत्रता प्रिय राजपूतों ने इसे पुनः स्वतन्त्र करने की चेष्टा शुरू कर दी। लाचार होकर खिज्र खां ने 1311 ई. के बाद दुर्ग छोड़ दिया। खिज्र खां के पश्चात अलाउद्दीन ने चित्तौड़ दुर्ग का प्रबन्ध सोनिग्रा राजपूत सरदार मालदेव को सौंपा। उसे इस बात की उम्मीद थी कि मालदेव गुहिलौत राजपूतों को अपने वश में रख सकेगा और निरन्तर कर देता रहेगा। परन्तु सुल्तान अलाउद्दीन की मृत्यु के उपरान्त गुहिलौत राजवंश की छोटी शाख्य के रूप में राजा हम्मीर ने मालदेव को मार भगाया और चित्तौड़ पर पुनः अधिकार कर उसे स्वतंत्र कर लिया। हम्मीर के नेतृत्व में चित्तौड़ की शक्ति और श्रेष्ठता की धाक पुनः सम्पूर्ण राजस्थान में जम गई।[42]

राजपूत लोग सुल्तान के एक कठपुतली के आधीन रहने के बिल्कुल इच्छुक नहीं थे और उन्होंने मालदेव के मार्ग में कठिनाइयाँ ही उत्पन्न की।

मालदेव का प्रबलतम शत्रु सीसोदा का राजा हम्मीर था, जिसका दादा लक्ष्मण सिंह अपने सात पुत्रों के साथ, जिनमें हम्मीर का पिता आरसी सिंह भी था। चित्तौड़ के युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस स्मरणीय युद्ध में बचे, हम्मीर के एक मात्र चाचा अजय सिंह के पश्चात् हम्मीर सीसोदा राज्य का राणा हो गया और चित्तौड़ प्राप्त करने के लिए अनवरत रूप से युद्ध करता रहा। मालदेव ने उसे शांत करने का प्रयत्न किया। उसने अपनी पुत्री का विवाह हम्मीर से कर दिया और उसे चित्तौड़ के कुछ भाग दे दिये, किन्तु साहसी राणा चित्तौड़ को पुनः प्राप्त करने के लिए कृत संकल्प था। अन्त में उसके प्रयत्नों को सफलता का सेहरा मिला और लगभग 1321 ई0 में मालदेव की मृत्यु के पश्चात् हम्मीर सम्पूर्ण मेवाड़ का स्वामी हो गया। और उसने महाराणा की पदवी धारण की। महाराणा कुम्भा के समय के 1348 ई0 के एक शिलालेख में कहा गया है कि हम्मीर ने भारी संख्या में मुसलमानों का संहार किया और यश कमाया।[43]

'रणथम्भौर और चित्तौड़ के शक्तिशाली राज्यों पर अधिकार हो जाने से तुर्की सेनाओं की दुर्दमनीयता के प्रति राजपूतों की आंखें खुल गई और अनेक शासकों ने बिना युद्ध किये ही अलाउद्दीन के सम्मुख समर्पण कर दिया। किन्तु मालवा के राय महलकदेव ने स्वामिभक्ति का मार्ग त्याग दिया और सम्राट के विरूद्ध अपने राज्य की रक्षा करने के लिए वह तैयार हो गया।'' ऐसा अमीर खुसरो कहता है।[44]

मालवा का तत्कालीन शासक महलकदेव एक शक्तिशाली शासक था और उसका सेनापति हरनन्द (कोका प्रधान) एक योग्य राजनीतिज्ञ और कुशल योद्धा था। मुसलमानों ने मालवा पर आक्रमण कर उज्जैन, भिलसा आदि स्थानों को पहले भी लूटा था। परन्तु मालवा को विजय नहीं किया जा सका था।[45] 1305 ई0 में अलाउद्दीन के आक्रमण के पूर्व भी मुस्लिम सेनाएं मालवा में प्रवेश कर चुकी थीं। 1231–32 ई0 में शम्सुद्दीन इल्तुतमिश ने उसके विरुद्ध अभियान करके विदिशा के किले को अधिकृत कर लिया था और उज्जैन को लूटा तथा और इस दौरान में उसने महाकाल के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ा था। किन्तु यह केवल लूट के लिए किया गया धावा था, और इल्तुतमिश के दिल्ली लौटते ही राजा देवपाल का शासन वहां यथावत् स्थापित हो गया।

जलालुद्दीन के शासनकाल में भी एक छोटा अभियान किया गया था किन्तु अलाउद्दीन के समय ही उसे एक अभियान का सामना करना पड़ा और यह राज्य दिल्ली साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अमीर खुसरो लिखता है कि मालवा के महलकदेव के पास तीस हजार घुड़सवार सेना और संख्य पैदल सेना थी। महलक का दूधभाई और महासेनापति हरनन्द था जो कोका प्रधान के नाम से प्रसिद्ध था और निपुण राजनीतिज्ञ और साहसी योद्धा था। उनकी हठधर्मी देखकर अलाउद्दीन ने कलम और तलवार के धनी ऐनमुल्क मुल्तानी के नेतृत्व में मालवा के विरूद्ध अभियान करने के लिए 10,000 सैनिकों का एक दल तैयार किया।

शाही सेनाओं ने प्रदेश में आकर आतंक उत्पन्न कर दिया। एक संघर्ष में कोका युद्ध भूमि में मारा गया, जहां जितनी दूर तक मनुष्य की आंख देख सकती थी भूमि रक्त से गीली थी।[46] उसका सिर दिल्ली भेजा गया जहां उसे महल के दरवाजों के नीचे घोड़ों के पैरों तले कुचल दिया गया। कोका की मृत्यु होते ही राय महलक माडू की ओर भाग गया। ऐनुलमुल्क मुल्तानी ने उस पदेश का शासन अच्छी तरह किया और शीघ्र ही वहां शांति स्थापित हो गयी।

कुछ समय पश्चात् वहां अपनी सेनाओं के साथ माण्डू की ओर बढ़ा, जो खुसरो के अनुसार दक्षिण विजय की कुंजी था। महलक देव की एक टुकड़ी ने उसके पुत्र के नायकत्व में शाही सेनानायक से टक्कर ली। किन्तु उसकी पराजय हुई और राजकुमार मारा गया। माण्डू का किला घेर लिया गया इसी समय शहर के एक द्रोही ने ऐनुलमुल को एक गुप्त मार्ग बता दिया और वह रात्रि के अन्धकार में किले में प्रविष्ट हो गया। महलक देव और उसके सैनिक किले के भीतर शत्रु के आगमन से भौंचक्के रह गये और इसके बाद की भागदौड़ की गडबड़ी में राणा मारा गया और 23 नवम्बर 1305 को नगर पर शाही सेना का आधिपत्य हो गया।[47]

माण्ड् के पतन के पश्चात् ही उज्जैन धार नगरी और चंदेरी के नगर अधिकृत कर लिए गए और उनके मुख्याधिकारियों को सल्तनत की अधीनता मानने के लिए बाध्य किया गया। ऐनुलमुल्क ने अपनी विजयों का विस्तृत विवरण दिल्ली लिख भेजा जहां पूरे एक सप्ताह तक आनन्द

मनाया गया। और सातों दिन जनता में मिष्ठान वितरण किया गया। माण्ड् तक पूरा मालवा ऐनुलमुल्क मुल्तानी को उसकी ज्वलंत सफलता और महान सेवा के पुरस्कार स्वरूप सौंप दिया गया। अब उसने उत्तरी मालवा में चन्देरी पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया।

इस प्रकार 1306 ई0 के प्रारम्भ में उज्जैन धार मांड् तथा चंदेरी पर सुल्तान की सेना का अधिकार हो गया। जालौर के कनेर देव ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली इन समस्त विजयों के परिणामस्वरूप अलाउद्दीन आइन उल मुल्क मुल्तानी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे मालवा तथा माण्डू का प्रांतपति नियुक्त कर दिया।[48]

यद्यपि रणथम्भौर और मेवाड़ की पराजय के पश्चात् राजस्थान के अन्य छोटे राज्यों पर भी सुल्तान का प्रभुत्व स्थापित हो गया, परन्तु मारवाड़ अभी भी खिलजी सत्ता में स्वतंत्र था। 1308 ई. में अलाउद्दीन ने मारवाड़ विजय की योजना बनाई, क्योंकि राजस्थान में यही एक ऐसा राज्य था जिसने उस समय तक तुर्की योजनाओं को विफल कर दिया था।

मालवा की विजय के पश्चात् अलाउद्दीन अपने कुशल सेनानायक मलिक नायब काफूर को दक्षिण भेजा और स्वयं सेवाना (मारवाड़) पर अधिकार करने चला।[49] उस समय सेवाना, परमार राजपूत सरदार शीतलदेव के अधिकार में था। शीतलदेव ने रणथम्भौर और चित्तौड़ जैसे किलों को खलजी युद्धपति के आघातों के सम्मुख समर्पण करने से इंकार

कर दिया। शीतलदेव शक्तिशाली एवं कर्मठ शासक था उसने युद्ध में अनेक रायों को पराजित किया था।

सुल्तान 2 जुलाई 1308 को सेवाना के शासक को दण्डित करने के लिए चला। वहां पहुंचकर उसने किले का घेरा प्रारम्भ किया। शाही सेना का दक्षिण पार्श्व बुर्जियों के पूर्व और पश्चिम की ओर वाम पार्श्व उत्तर की ओर रखा गया और मध्यभाग मलिक कमालुद्दीन भेड़िया को सौंपा गया। मंजनीको से प्रक्षेपास्त्रों की अनवरत बौछार जारी रखी गई, किन्तु लम्बे समय तक सफलता के कोई चिन्ह दृष्टिगोचर न हुए। शाही सेना ने अनेक युक्तियों का प्रयोग किया किन्तु सब निरर्थक रहा।[50]

राजपूत राजाओं ने दृढ़तापूर्वक किले की रक्षा की, वे बुर्जियों से अग्नि और पत्थरों की वर्षा करते रहे और महीनों तक तुर्की बांसुरियों और हिन्दू घंटों की ध्वनि के कारण सांस रुक सी गई। बड़ी कठिनाई के बाद शाही सेनाएं दुर्ग की बुर्जियों को लांघने में सफल हुई। शीतलदेव ने जालौर भागने का प्रयत्न किया, किन्तु वह सेना की एक छुपी हुई टुकड़ी में फंस गया और 10 नवम्बर 1308 को मारा गया।[51]

राजपूतों ने अपनी पूरी शक्ति और साहस से शत्रु सेना के साथ रक्षात्मक युद्ध किये। हजारों की संख्या में वीर राजपूत हताहत हुए। शीतलदेव ने जालौर भाग जाने की कोशिश की परन्तु वह पकड़ा गया और उसके मस्तक को काटकर उपहार स्वरूप अलाउद्दीन को भेंट कर दिया गया। अन्त में राजपूतों ने बाध्य होकर सुल्तान के साथ शान्ति सन्धि कर

ली। इस सन्धि के परिणाम स्वरूप दुर्ग पर शीतलदेव के उत्तराधिकारियों का अधिकार रहा, किन्तु मारवाड़ के कुछ प्रदेशों को दिल्ली के अमीरों को प्रदान कर दिया गया।[52]

जालौर की विजय 1311 ई0 में अलाउद्दीन ने किया। राय महलकदेव की ढीठता का अनुकरण जालौर के चौहान राजा कनेर देव ने भी किया और उसके साथ भी वैसा ही बर्ताव किया गया। कान्हड़देव (कनेर देव) जो सालिग्राम, गोकलनाथ और कृष्ण तृतीय के नाम से भी प्रसिद्ध था। गुजरात के सोलंकी भीमदेव के एक आश्रित सोमसिंह का पुत्र था।[53]

मारवाड़ में अपनी सत्ता दृढ़ता से स्थापित करने के पश्चात कान्हड़देव की अर्द्ध–स्वतंत्र स्थिति दुर्विनीत समझी गई और उसके प्रदेश पर आक्रमण कर दिया गया। नैनसी अलाउद्दीन द्वारा जालौर के दो घेरों का वर्णन करता है। एक तो 1299 में शाही सेना के गुजरात से लौटने के समय और दूसरा 1311 ई0 में। चूंकि सुल्तान ने गुजरात के लिए स्वयं प्रस्थान नहीं किया था इसलिए 1299 के घेरे के सम्बन्ध में नैनसी द्वारा दिया गया विवरण पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह सदैव वहां सुल्तान की उपस्थिति का उल्लेख करता है। किन्तु फरिश्ता भी जालौर के दो अभियानों का उल्लेख करता है। 1304 ई0 की घटनाओं का वर्णन करते समय फरिश्ता लिखता है कि जब शाही सेनानायक अलफखां और नुसरतखां मालवा को विजय से लौट रहे थे, वे जालौर पहुंचे और

कान्हड़देव ने कोका के भाग्य से शिक्षा लेकर बिना किसी प्रतिरोध के सुल्तान के सम्मुख समर्पण कर दिया।

दूसरा आक्रमण फरिश्ता के अनुसार 1308 में हुआ और यह एक विचित्र घटना के कारण हुआ। एक दिन जब कान्हड़ दरबार में उपस्थित था, उसने अलाउद्दीन को यह कहते हुए सुना कि हिन्दू राजाओं में ऐसा कोई नहीं है जो उसकी सेना की शक्ति को चुनौती देने का साहस कर सके। इस टीका ने कान्हड़ के आत्माभिमान को चोट पहुंचाई, और उसने यह उत्तर देते हुए तलवार निकाल ली कि ''यदि मैं युद्ध घोषित करता हूं और सफल नहीं होता तो मुझे मार डाला जाय।[54] इस धृष्टता ने सुल्तान को क्रुद्ध कर दिया और उसने जालौर पर आक्रमण करने का आदेश दिया, जहां कान्हड़ पहले ही युद्ध की तैयारियां करने चला गया था। हाजी उद्बीर कथा को लगभग दोहरा देता है जो विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। यह वास्तव में आश्चर्य पूर्ण है कि एक बार दो कान्हड़ देव सुल्तान के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए दिल्ली भागता है, चार वर्षों तक अटूट आज्ञाकारिता का पालन करता है और फिर अचानक ऐसा उद्धृत रूख अपना लेता है कि वह स्वयं को अपनी प्रजा को बहुत विपत्ति में डाल देता है। नैनसी द्वारा दिये गये और फरिश्ता और हाजी उद्बीर द्वारा दिये गये कारण विश्वसनीय है। आक्रमण का वास्तविक कारण निश्चय जालौर की स्वतन्त्रता को समाप्त करने का सुल्तान का निश्चय था जैसा कि राजपूताना के अन्य राज्यों के साथ किया गया था। संक्षेप में 1311 ई0 में

एक सेना जलौर भेजी गई अभियान के सेनानायक का नाम ज्ञात नहीं है। किन्तु वह एक वीर सेनापति नहीं दिखता राजपूतों ने शाही पक्ष को अनेक मुठभेड़ों में पराजित किया और उन्हें अनेक बार पीछे ढकेल दिया। एक बात निश्चित है कि जालौर का युद्ध भयानक था और संभवतः दीर्घ कालीन भी गुजराती महाकाव्य कान्हड़ दे प्रबन्धके अनुसार संघर्ष कुछ वर्षों तक चलता रहा और शाही सेनाओं को अनेक बार मुंह की खानी पड़ी। इस अपमान जनक पराजयों के समाचार ने सुल्तान को उत्तेजित कर दिया, और उसने अनुभवी मालिक कमालुद्दीन गुर्ग के अन्तर्गत एक शक्तिशाली सेना भेजी।

जालौर पहुंचने पर कमालुद्दीन अदम्य उत्साह से घेरा दृढ़ किया। अन्त में गोफलनाद उसका पुत्र विक्रमदेव और उनके अनुयायी एक मुठभेड़ में मारे गये और किला अधिकृत कर लिया गया। कान्हड़देव का एक भाई मालदेव जालौर के पतन के पश्चात् हुए संहार से बच निकला। बाद में वह सुल्तान की सद्भावना पाने में समर्थ हुआ और सुल्तान ने उसे खिज्रखां से चित्तौड़ का कार्यभार लेने के लिए नियुक्त कर दिया। 1308 ई0 में सेवाना की विजय का कार्यभार हाथ में लिया गया और एक विशाल सेना दक्षिण भी गई। इसलिए यह बहुत संभव है कि जालौर पर बाद में आक्रमण किया गया। दूसरे नैनसी की तिथि पर बाद में आक्रण किया गया। दूसरे नैनसी की तिथि जैन प्रभा सूरी के तीर्थ कल्प से मेल खाती है जो कहता है कि संवत् 1367, 1310 ई. में अलाउद्दीन ने जालौर के निकट संचोर नामक

स्थान पर महावीर का एक मन्दिर ध्वस्त किया। इस मन्दर का अपवित्र किया जाना उस विस्तृत कार्य अर्थात जालौर आक्रमण का एक अंश रहा होगा।[55]

श्री रेऊ भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जालौर ने 1311 ई0 में समर्पण किया।[56] इस विजय की स्मृति रखने के लिए अलाउद्दीन ने जालौर में सोंगिर के प्रसिद्ध किले में एक मस्जिद का निर्माण किया जो अभी भी विद्यमान है।[57] जालौर के समर्पण के साथ ही राजपूताना की सब प्रमुख रियासतें एक के पश्चात् एक अधिकार में कर ली गई। जैसलमेर रणथम्भौर, चित्तौड़, सेवाना, और जालौर और उनसे लगी रियासतें – बूंदी, मण्डोर और टोंक सब आक्रांत की जा चुकी थी।[58]

ऐसा प्रतीत होता है कि जोधपुर (मारवाड़) भी सल्तनत के अधीन था यद्यपि इसके अधिकृत किए जाने का विशेष उल्लेख नहीं है तथापि सं0 1358 (1301 ई0) के पाण्डुआ (जोधपुर) में एक शिलालेख में जोगिनीपुरा (दिल्ली) के अलवदी (अलाउद्दीन) को सत्तारूढ़ शासक बताया गया है।[59]

इस प्रकार चौदहवीं शती की प्रथम दशाब्दी के अन्त तक भारतीय शौर्य की यशवंत भूमि राजपूताना दिल्ली के सम्राट के चरणों पर लौटने लगी। किन्तु राजपूताना पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव था और वहां अलाउद्दीन की सफलता संदिग्ध थी। आलाउद्दीन की राजस्थान सम्बन्धी नीति साम्राज्यवादी होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक थी। ऐसा कोई नरेश सहन नहीं कर सकता था जो उसे चुनौती देता। उसने राजस्थान को

सल्तनत में विलय करने की योजना बनाई। किन्तु इसे उसने केवल संभल–संभलकर कार्यान्वित किया, बल्कि बाद में इसे अव्यावहारिक समझ कर छोड़ भी दिया। यथासंभव सुल्तान ने राजस्थान की सामाजिक व्यवस्था के साथ छेड़खानी नहीं की। राजस्थान के शासकों द्वारा अधीनता स्वीकार कर लिए जाने के बाद उन्हें स्वतन्त्र रूप से शासन करने को छोड़ दिया जाता था।[60]

वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों में इससे ज्यादा और कुछ करना संभव भी नहीं था एक कारण यह भी था कि उस समय राजस्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना वह बाद में हो गया। ड0 बी0पी0 सक्सेना ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि अलाउद्दीन ने राजस्थान के प्रति कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनाई थी उसके अनुसार अलाउद्दीन को राजस्थान में बहुत कठिन युद्ध करने पड़े जबकि वहां से उसे आर्थिक दृष्टि से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में उसकी रुचि राजस्थान विजय में नहीं रही थी। परन्तु डॉ0 सक्सेना का उपर्युक्त विचार अधिकांश इतिहासकारों को मान्य नहीं है। अलाउद्दीन किसी भी शक्तिशाली राज्य को अपने निकट स्वतंत्र देखना नहीं चाहता था।[61]

राजस्थान की विजय उसकी विजय योजना की एक कड़ी थी। इसके अतिरिक्त उसे गुजरात और दक्षिण भारत के लिए सुरक्षित मार्ग चाहिए थे। जो राजस्थान की विजय द्वारा ही सम्भव थे। इस कारण राजस्थान की विजय उसके लिए आवश्यक थी इसी कारण उसने

रणथम्भौर और चित्तौड़ जैसे किलों पर स्वयं आक्रमण किया। इस प्रकार राजस्थान की विजय अलाउद्दीन की विजय योजना का एक सुनिश्चित भाग था और जो सफलता उसने वहां प्राप्त की उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गयी। इस प्रकार 1311 ई0 तक सिर्फ नेपाल अलाउद्दीन का अधिकार हो गया और सुल्तान की साम्राज्यवादी नीति और भी अधिक सुदृढ़ एवं प्रसारवादी हो गई।[62]

अलाउद्दीन ने जब से 1300 ई0 में रणथम्भौर की विजय सम्पन्न की थी तब से 1311 में जालौर के पतन तक उसकी सेनाओं ने राजस्थान में अनवरत रूप से युद्ध किया था किसी किले का घेरा प्रारम्भ होने पर सेनाओं को वापस बुलाना सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था और राजपूतों का शौर्य शत्रुओं के सम्मुख पराजय मानने का अपमान न सह सकता था। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक किले के सामने रक्तरंजित युद्ध हुए। तब राजपूताना के विभिन्न युद्धों को गिनाना रक्त और हत्याकाण्ड की वीरतापूर्ण संघर्ष की, यशीपूर्ण प्राणोत्सर्ग की वीभत्सता को दोहराना ही है। कभी–कभी एक ही दुर्ग के सम्मुख वर्षों तक संघर्ष होता रहता और उसका अन्त उसकी जनसंख्या के सामान्य संहार और जौहर की अग्नि में स्त्री समूह के भयंकर विनाश से होता।[63]

अलाउद्दीन और उत्तर भारत के राजपूत राज्यों में सदैव संघर्ष जारी रहा, जो बाद में दक्षिण भारत के राज्यों की ओर भी बढ़ा। उत्तरी भारत में अलाउद्दीन की उपलब्धियां अत्यन्त महत्वपूर्ण है। केवल सोना,

और चांदी प्राप्त करने के लिए देवगिरि पर आक्रमण करने वाला और शाही मुकुट धारण करने के लिए अपने चाचा की हत्या करने वाला, सूरमा एक घृणित लुटेरे और हत्यारे से कुछ अधिक था। राजपूताना में जैसलमेर के रेतीले मरुस्थल में और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर की पथरीली भूमि में युद्ध करके उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया था। ऐसा केवल विजय करने के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी सत्ता के अन्तर्गत समग्र देश को एकीकृत करने हेतु किया गया था। जालौर के पतन के पश्चात न केवल सम्पूर्ण राजपूताना, बल्कि सम्पूर्ण उत्तर भारत उसकी मुट्ठी में आ गया। उत्तर पश्चिम में उसकी सेनाएं गजनी तक गयी थी और उत्तर पूर्व में उसकी शक्ति का अनुभव दूरस्थ नेपाल की भूमि पर किया जा चुका था। दिल्ली का एक सामान्य सुल्तान से अलाउद्दीन अपनी योग्यता और हृदय के अदम्य उत्साह के बल पर हिन्दुस्तान का सम्राट हो गया।

सन्दर्भ सूची

1. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000, पृ. 122
2. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 126
3. बदायूनी रैंकिग, प्र0 पृ. 287
4. किशोरी सरन लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, सन् 1964 पृ. 65
5. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ. 126
6. वस्साफ, जिल्द चौथी, पृ. 447
7. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000 पृ. 122
8. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ. 126
9. एम.एस. कमिसेरिएट : ए हिस्ट्री आफ गुजरात, प्र. पृ. 58–75
10. तारीख –ए मासूमी, पृ. 44
11. बरन – पृ. 251–52
12. फुतुहू – पृ. 243
13. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 127
14. 'हम्मीर काव्य' हमीर द्वारा मुहम्मदशाह को शरण दिया जाना अलाउद्दीन के आक्रमण का कारण मानते हैं। इसका समर्थन इसामी द्वारा होता है।

15. एल0पी0 शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000, पृ. 122

16. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 127

17. किशोरी सरन लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, सन 1964 पृ. 88

18. हाजी मौला सुल्तान जलालुद्दीन के समय दिल्ली का शहरा था। फरिश्ता, पृ. 107

19. रतोल या रत्तौला दिल्ली के 5 मील उत्तरपूर्व में है और मेरठ जिले की बागपत तहसील में है।

20. खजाइन अलाहाबाद विश्वविद्यालय, पाण्डु फलक 27 अ और ब।

21. फुतुहू, पृ. 272–73

22. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सन् 1964 पृ. 76

23. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. 108

24. वही पृ. 261, थामस : क्रानिकल, पृ. 148–49

25. थामस क्रानिकल, पृ. 193

26. लेनपूल केरलाग आफ इण्डया क्वाइन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम स्टेट्स – पृ. 10

27. बरनी, पृष्ठ 158

28. एल0पी0 शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा सन–2000, पृ. 123

29. डॉ0के0एस0 लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सं 1964,पृ. 96

30. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 127
31. वी.ए. स्मिथ, अकबर दि ग्रेट मुगल, पृ. 82—83
32. ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द, राजपूताना का इतिहास, पृ. 463—71
33. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सन् 1964, पृ. 97
34. देवलरानी, पृ. 66—67
35. उस काल का मुख्य अधिकृत लेखक बरनी चित्तौड़ के समर्पण के सम्बन्ध में आर्क. सर्वे. रिर्पो. 1925, पृ. 149
36. आर्क सर्वे रिपोर्ट, 1925, पृ. 149
37. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सन् 1964 पृ. 98
38. एनल्स, प्र.पृ. 311
39. खजाइन, हबीब, अनु. पृ. 48
40. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत का इतिहास, आगरा, सन् 2000 पृ. 123
41. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सन् 1964 पृ. 107
42. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 128
43. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, सन् 1964, पृ. 109
44. खजाइन हबीब, अनुवाद पृ. 43
45. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, 2000 पृ. 124
46. खजाइन हबीब अनुवाद पृ. 46

47. के.एस. लाल, खिलजीवंश का इतिहास, आगरा, सन 1964, पृ. 111
48. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 129
49. सेवाना जोधपुर के 50 मील द.प. में स्थित
50. फुतुहू पृ. 307
51. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा सन् 1964 पृ. 112
52. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 129
53. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास पृ. 11
54. फरिश्ता, पृ. 118
55. ईश्वरी प्रसाद कृत, ए हिस्ट्री आफ करौना वर्क्स, प्रथम पृ. 26
56. रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, पृ. 15
57. आर्क. सर्वे. इण्डि. रिपोर्ट, 1930–34, पृ. 50
58. तांड, एनल्सन, प्र.पृ. 311
59. आर्क, सर्वे. आफ इण्डिया रिपोर्ट, 1909–10, पृ. 131
60. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 129
61. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत का इतिहास, आगरा सन् 2000
    पृ. 126
62. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 129
63. के.एस. लाल खिलजीवंश का इतिहास, आगरा, सन् 1964, पृ. 117

पंचम् अध्याय

दक्षिण भारत के राजपूत राज्य और अलाउद्दीन खिलजी

पंचम – अध्याय

दक्षिण भारत के राजपूत राज्य और अलाउद्दीन खिलजी

अलाउद्दीन ने सम्पूर्ण उत्तर भारत को विजित कर लिया था तत्पश्चात् दक्षिण भारत के विजय अभियान के लिए निकल पड़ा। लेकिन दक्षिण भारत या देवगिरि का अभियान अलाउद्दीन ने सबसे पहले अपने शासन के प्रारम्भ में ही किया था। अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण भारत का अभियान दो बार किया, अपने शासन के प्रारम्भ में कड़ा, देवगिरि एवं विदिशा पर आक्रमण किया था। तत्पश्चात् उत्तर भारत के राज्यों के साथ शत्रुता चली, पुनः अलाउद्दीन दक्षिण भारत पर विजय पताका फहराई।

अलाउद्दीन खिलजी राज्यारोहण के पश्चात् समूचे उत्तर भारत का स्वामी बन गया। वह एक महत्वाकांक्षी एवं साम्राज्यवादी सुल्तान था। अतः अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति के लिए दक्षिण पर आक्रमण करना उसके लिए अनिवार्य हो गया था। अब तक दिल्ली के सुल्तानों का ध्यान केवल उत्तर भारत की विजय तक ही सीमित था दक्षिण भारत की विजय का कार्य दुस्साहस समझा जाता था।

वस्तुतः दक्षिण भारत की ओर अभियान करना और सफलता प्राप्त करना एक कठिन कार्य था। दक्षिण भारत की प्राकृतिक स्थिति विषम थी और इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति मुसलमान शासकों के विजय

अभियान में बाधक थी। सघन बीहड़ वनों उपत्यकाओं, विंध्याचल की ऊंची पर्वत श्रेणियों, दुर्गम मार्गों तथा आवागमन के साधनों के अभाव से दक्षिण विजय का कार्य केवल कठिन ही नहीं अपितु असंभव सा था। इसके अतिरिक्त दक्षिण में उन दिनों अनेक शक्तिशाली हिन्दू राज्य थे जो सुल्तानों के साम्राज्य विस्तार का इस क्षेत्र में उग्रता से विरोध करने को तत्पर थे।[1]

दिल्ली से दक्षिण के ये राज्य काफी दूर भी थे, अतः दक्षिण भारत की स्थायी विजय कठिन थी। सुदूर दक्षिणी क्षेत्रों में दिल्ली से शासन करना दुष्कर कार्य था। किन्तु अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षी विजय योजना में ये सारी कठिनाइयां बड़ी बाधा न उत्पन्न कर सकीं और उसने सफलतापूर्वक दक्षिण के समस्त राज्यों पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन खिलजी ही ऐसा प्रथम भारतीय मुस्लिम सुल्तान था जिसने दक्षिण भारत को जीतने और दिल्ली से उसे अपने अधीन रखने का सफल प्रयास किया।

चौदहवीं शती के प्रथम दशक के अन्त तक सुल्तान अलाउद्दीन ने लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत को विजित कर लिया था। उसने मंगोल आक्रमण के ज्वार को रोक लिया और असैनिक और सैनिक क्षेत्रों में सुधार कर लिए थे। अमीर व्यापारीगण और कृषक कठोर नियन्त्रण में रखे गये, जिससे उसकी स्वेच्छाचारिता का सारा विरोध अशक्त हो गया था। 75000

सुसज्जित सैनिकों की विशाल सेना को नियमित रूप से वेतन दिया जाता था।[2]

उत्तर में उसकी शक्ति को चुनौती देने वाला कोई न था, और उसने दक्कन प्रायद्वीप की विजय की ओर कदम बढ़ाये, क्योंकि वह पहला मुस्लिम शासक था जिसने समग्र भारत का स्वामी होने का स्वप्न देखा था। पिछले आक्रमण में अलाउद्दीन को देवगिरि से विशाल परिणाम में सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। किन्तु वहां से प्राप्त विशाल सम्पत्ति ने उसे एक दशक से अधिक समय तक उत्तर में व्यस्त रखा। फिर भी वह दक्कन के धन के सम्बन्ध में भूला न था और जैसे ही वह उत्तर की समस्याओं से मुक्त हुआ उसे पुनः दक्षिण की ओर मुंह फेरा।

इस प्रकार स्वर्ण का लोभ और यश की कामना–विजेताओं के इन दो उत्प्रेरकों ने उसे एक के पश्चात एक दक्कन के सारे राज्यों पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। विजय की योजना बन जाने पर एक बहाना भी यदि ऐसा–आवश्यक हुआ तो ढूंढ लिया गया। अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिण नीति को समझने के लिए भारत की दक्षिण की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर एक दृष्टिपात आवश्यक है। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय में दक्षिण भारत में चार प्रमुख राज्य थे। ये थे देवगिरि, तेलांगाना, होयसल और पाण्ड्य राज्य।

ये चारों राज्य अत्यन्त शक्तिशाली एवं सम्पन्न थे। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण पश्चिम में महाराष्ट्र को सम्मिलित करते हुए यादवों का देवगिरि राज्य था। रामचन्द्रदेव वहां का शासक और देवगिरि वहां की राजधानी थी।[3] यादवों ने कृष्णा नदी तट तक समस्त भाग अपने अधीन कर लिया था। देवगिरि राज्य के दक्षिण पूर्व में समुद्र तक के क्षेत्र तक तेलगांना का राज्य था। यहां काकतीय वंश का शासक प्रतापरूद्रदेव द्वितीय का शासन था। इसकी राजधानी बारंगल थी जो दक्षिण भारत का एक सुप्रसिद्ध नगर था। विदेशी व्यापार के कारण यह राज्य सुप्रसिद्ध नगर था। विदेशी व्यापार के कारण यह राज्य सोने चांदी से युक्त एवं काफी सम्पन्न था। तेलगांना तथा देवगिरि राज्यों के दक्षिण में शक्तिशाल होयसल राज्य था। इसकी राजधानी द्वार समुद्र थी। होयसल के शासक उत्तर में यादवों से और दक्षिण के चोलों से युद्धरत रहते थे।

अलाउद्दीन का समकालीन होयसल शासक वल्लाल द्वितीय था। यह राज्य भी अपने धन सम्पत्ति और राज्य वैभव के लिए प्रसिद्ध था। सदूर दक्षिण में पाण्डयो का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी। अलाउद्दीन का समकालीन शासक कुलशेखर एक अत्यन्त योग्य एवं प्रभावशाली शासक था। किन्तु इस समय तक यह राज्य गृह युद्ध से प्रेरित हो गया था। दक्षिण के इन महत्वपूर्ण राज्यों के अतिरिक्त कुछ छोटे–छोटे राज्य भी थे जो इनके अधीन थे, इस समय दक्षिण की राजनीतिक स्थिति

भी दयनीय थी इनमें एकता संगठन सहयोग का अभाव था तथा इनके बीच पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष, वैमनस्य और फूट थी। इन राज्यों ने अपनी अपनी सुरक्षा की ओर किंचित भी ध्यान नहीं दिया। अतः अलाउद्दीन को इन पर आक्रमण करने में सफलता प्राप्त हुई।[4] मलिक कफूर के आक्रमण के समय दक्कन प्रायःद्वीप चार विशाल और सम्पन्न राज्यों में विभाजित था।

देवगिरि[5] का महान मराठा राज्य उत्तर भारत और दक्कन प्रायद्वीप के मध्य था। देवगिरि के उत्तर में विन्ध्याचल के ऊँचे शिखर थे और उसके उत्तर तथा उत्तर पश्चिम में मालवा और गुजरात के राज्य थे। पूर्व और दक्षिण में क्रमशः तेलंगाना और द्वार समुद्र स्थित थे और पश्चिम में पश्चिमी घाट के पर्वत थे। उत्तर में विन्ध्य पर्वतों द्वारा आरक्षित रहने के कारण यह राज्य उन विदेशी आक्रमणकारियों के कार्यक्षेत्र से अछूता रहा। जो आठवीं से लेकर तेरहवीं सती तक उत्तर भारत में प्रवेश करते रहे।

किन्तु तेरहवीं शदी के अन्तिम चरण में महत्वाकांक्षी अलाउद्दीन की बेधक आंखों ने एक मार्ग निकाल ही लिया और उसकी विजय के लिए बहाना भी पा लिया। उस समय देवगिरि पर एक यादव राजा रामचन्द्र राज्य कर रहा था। यादव अपने को प्राचीन वंश का बताते थे। उनके भाव उन्हें भगवान कृष्ण का वंशज कहते थे। पहले यादव शासक चालुक्यों के सामन्त थे किन्तु बारहवीं शदी के अन्तिम चरणों में भिल्लम यादव ने अपने

ऊपर से चालुक्य आधिपत्य का जुआ उतार फेंकने और कृष्णा नदी के उत्तर के सारे प्रदेश पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली।[6]

परन्तु एक गौड़ राज्य को दक्कन की एक महान शक्ति बनाने का श्रेय सिंघन को है जिसने तेरहवीं शती के पूर्वार्द्ध में राज किया। अपने सफलतापूर्वक मालवा और गुजरात पर आक्रमण किया और दक्षिण कोंकण को जीत लिया और होयसल शासक से दक्षिण मराठा प्रदेश को छीन लिया।[7] एक विस्तृत एवं प्रदीप्त शासन के पश्चात 1247 ई. में उसकी मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसका पौत्र कृष्ण प्रथम सिंहासनासीन हुआ। सन् 1260 में कृष्ण की मृत्यु हो जाने पर उसका भाई महादेव सिंहासनासीन हुआ। जिसने 1271 ई. तक राज्य किया। उसके पश्चात् कृष्ण प्रथम का पुत्र रामचन्द्र गद्दी पर बैठा। इसी के एक विस्तृत और सफल शासन के पश्चात् अपनी वृद्धावस्था में अलाउद्दीन के आशातीत आक्रमण का सामना करना पड़ा। और एक विदेशी शत्रु के सम्मुख अपमान जनक समर्पण करना पड़ा। उसके प्रारम्भिक वर्ष पर्याप्त समृद्ध रहे। उसकी सेनाओं ने मालवा और मैसूर दोनों को अक्रान्त किया था और वह निर्विवाद रूप से प्रायद्वीपीय भारत का सर्वोच्च शासक था। उसके राज्य में उमाद्रि या हेमादपन्त फला फूला।[8]

इस प्रकार तेरहवीं शती में देवगिरि के राज्य ने दो योग्य शासकों सिंघन और रामचन्द्र के अन्तर्गत चहुमुखी समृद्धि का उपभोग किया था।

पच्चीस वर्षों तक रामचन्द्र ने समृद्धि पूर्वक राज्य किया। उसकी सेनाओं की वीरता उसकी विस्तृत सीमान्तों की रक्षा में रत थी। हेमादयन्त की चतुरता ने उसकी पूजा के लिए समृद्धि प्राप्त की और शासक का कोष भर दिया।[9]

प्रादेशिक सीमा विस्तार के अतिरिक्त देवगिरि अपने उन्नत व्यापार से भी समृद्ध हो रहा था, जो एक ऐसे देश में अवश्य ही फलता फूलता है जहां आन्तरिक रूप से अनवरत शान्ति रहती है। किसी भी विदेशी अक्रान्ता ने देश का कोष नहीं लूटा था और अलाउद्दीन को विदिशा में ज्ञात हुआ था कि रामचन्द्र को अपने पूर्वजों द्वारा एकत्र किया गया विशाल कोष विरासत में मिला है।[10]

तत्कालीन सामाजिक रीतिरिवाजों और विशेषकर हिन्दुओं द्वारा विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों के प्रयोग के कारण सोना घर–घर में पाया जाता था। जबकि राज्य का कोष बहुमूल्य धातुओं और बहुमूल्य पत्थरों से परिपूर्ण था। ऐसी थी देवगिरि की सम्पत्ति जिसने अलाउद्दीन की कल्पना को प्रज्वलित किया और एक ऐसी विजय के लिए उसे उत्तेजित किया जो हिन्दू मुस्लिम इतिहास गाथाओं में अनुपमेय है।

दक्षिण राज्यों के कुछ विशिष्ट कारणों से प्रेरित होकर अलाउद्दीन ने इन राज्यों पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन एक महत्वाकांक्षी एवं साम्राज्यवादी शासक था। वह सम्पूर्ण भारत की विजय की इच्छा रखता

था। उत्तर भारत की विजय के पश्चात् वह दक्षिण भारत की विजय के सपने को साकार करना चाहता था। वस्तुतः सुल्तान की साम्राज्य विस्तार की भावना उसके दक्षिण अभियान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण थी। द्वितीय उन दिनों दक्षिण के राज्य अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न थे। सुल्तान को अपनी योजनाओं की पूर्ति के लिए तथा सैनिकों को वेतन देने के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी।

देवगिरि के सफल सैनिक अभियान के द्वारा अलाउद्दीन दक्षिण की विपुल धन सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य से पूर्णतः परिचित हो चुका था। अतः अतिरिक्त धन राशि की प्राप्ति के लिए उसने दक्षिण की विजय की योजना बनाई। तृतीय अलाउद्दीन जैसे महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी के लिए दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए यही पर्याप्त था कि दक्षिण के राज्य आपसी कलह के कारण दुर्बल हो रहे थे। चौथा अलाउद्दीन ने 1302 ई. में जो सेना बंगाल और बारंगल की विजय के लिए भेजी वह असफल रही। इससे सुल्तान की प्रतिष्ठा को आंच आयी। वारंगल और दक्षिण की शीघ्र विजय से वह अपयश की कालिमा को धो देना चाहता था एवं गुजरात का शासक कर्ण सिंह बघेल देवगिरि निवास कर रहा था। कर्ण की भूतपूर्व पत्नी कमला देवी जो उन दिनों सुल्तान के रनिवास में थी वह अपने भूतपूर्व पति तथा अपनी पुत्री देवल देवी से मिलने के लिए उत्सुक थी।

इसके लिए देवगिरि पर आक्रमण करना सुल्तान के लिए आवश्यक हो गया था।

देवगिरि के शासक राजा रामचन्द्र ने कुछ वर्षों से सुल्तान को वार्षिक कर भेजना बंद कर दिया था। सातवां कारण मंगोलों का प्रतिरोध करने तथा उत्तरी भारत की विजय करने के लिए सुल्तान अलाउद्दीन ने सन् 1308 ई0 तक अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि करके उसे चार लाख पचहत्तर हजार कर ली थी। यदि इन सैनिकों को किसी अभियान या आक्रमण पर न लगाया जाता तो ये स्वयं उपद्रव व संघर्ष करते। उत्तरी भारत की विजय सम्पन्न हो चुकी थी और मंगोल आक्रमण भी बन्द हो गये थे। विद्रोह और षडयन्त्रों का दमन कर लिया गया और राज्य में अतिरिक्त शान्ति भी लगभग स्थापित हो गयी थी। ऐसी दशा में विशाल सेना को कार्यरत रखने का एक मात्र यही उपाय था कि उसे दक्षिण विजय के लिए भेज दिया जाय। व्ययशील शासन तन्त्र को संचालित करने के लिए तथा उसके बढ़ते हुए राजकीय वैभव एवं शान शौकत को बढ़ाये रखने के लिए उसे प्रचुर धन की आवश्यकता थी जो उसे दक्षिण भारत के राज्यों से ही प्राप्त हो सकती थी।[11] उपर्युक्त कारणों से प्रेरित होकर अलाउद्दीन ने शीघ्र ही दक्षिण के राज्यों पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

उसने तीस हजार प्रशिक्षित सैनिकों का एक विशाल दल इस उद्देश्य से तैयार किया और मलिक काफूर के नेतृत्व में उन्हें दक्षिण

अभियान एवं विजय के लिए भेजा। यह सेना मालवा और गुजरात से होती हुई 1307 ई. में देवगिरि की ओर बढ़ी।

लेकिन इस देवगिरि के अभियान से पर्वू दक्कन के प्रमुख राज्यों के विषय में विस्तार से जान लेना अति आवश्यक है। बिल्कुल दक्षिण में पाण्ड्यों का राज्य था। 12वीं शती में पाण्ड्य राज्य की आन्तरिक कलह और तदन्तर उत्तर से चोलों–राजाधिराज द्वितीय और उसके युवराज कुलान्तुंग तृतीय के और दक्षिण से सिंघली राजाओं के हस्तक्षेप के कारण अपरिमिति क्षति उठानी पड़ी थी। किन्तु फिर 13वीं शती में पाण्ड्य पुनः उन्नति करने लगे। अगला पाण्ड्य राजा मारावर्मन सुन्दर पाण्डय प्रथम और द्वितीय (1216 से 1239) और (1239–1255) के अन्तर्गत उन्होंने अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः बहुत कुछ प्राप्त कर ली।

अगला पाण्ड्य राजा जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य जिसने 1274 तक राज्य किया, महान योद्धा था और उसने समग्र चोल साम्राज्य को अधीन कर लिया। उसने मालबार प्रदेश पर आक्रमण किया और चेर राजा को पराजित कर के मार डाला। उसने होयसल राजा सोमोश्वर से भी युद्ध किया। जटावर्मन के दो या तीन भाई थे जो पाण्डय साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में स्वतंत्र रूप से शासन तो करते थे किन्तु वे मुख्य राजा जटावर्मन सुन्दरपाण्ड्य के अधीन थे।[12] एक का नाम विक्रम पाण्ड्य और दूसरे का वीर पाण्ड्य था। दोनों विजयों का दावा करते थे वीर पाण्ड्य का एक

अभिलेख बतलाता है कि उसने इलम (लंका) कोंगू और सोलमण्डलम् (चोल) देश को अधिकृत किया था। किन्तु पाण्ड्यों का महानतम राजा मारावर्मन कुलशेखर था। जो 1268 ई. में सिंहासनासीन हुआ और 1311 ई0 तक राज्य करता रहा। जबकि मुसलमानों ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया।

उसके दीर्घ और समृद्ध शासन काल में मार्कोपोलो ने उसके राज्य में स्थित कयल के बन्दरगाह का भ्रमण किया। वह देश की संपत्ति और समृद्धि का विस्तार से वर्णन करता है। मारावर्मन कुलशेखर कोनेरिन्मैकोन्दन, अर्थात ऐसा राजा जिसके तुल्य कोई न हो, के नाम से भी प्रसिद्ध है, और ऐसा उल्लेख मिलता है कि उसने मदुरा, जो पहले होयसलों की राजधानी थी, से शासन किया।

मारावर्मन कुलशेखर के दो पुत्र थे, सुन्दर पाण्ड्य जो वैध था और वीर पाण्ड्य, जो अवैध था। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार राजा ने वीर पाण्ड्य को अपना उत्तराधिकारी बनने के योग्य समझा और उसे अपना उत्तराधिकारी नामजद कर भी दिया। चूंकि वीर पाण्ड्य का कुलशेखर ने खुले रूप में से पक्षसमर्थन किया था, सुन्दर स्वाभाविकतः उससे द्वेष करने लगा। इसकी चरम सीमा तब हो गई जब मई 1310 ई0 में सुन्दर ने अपने पिता की हत्या कर दी और दोनों भाई सिंहासन पर अधिकार जमाने के लिए युद्धरत हो गये। एक युद्ध में सुन्दर पराजित हुआ और उसने दिल्ली

के सुल्तान से सिंहासन प्राप्त करने में सहायता की मांग की। यही कारण मदुरा पर काफूर के आक्रमण का कारण बना। इस प्रकार मलिक काफूर के आक्रमण के समय दक्षिण भारत में मतभेद और परस्पर युद्धों का सोचनीय वातावरण था। चारों प्रमुख राज्यों की सीमाएं यादवों होयसलों, काकतीयों और पाण्डयों के मध्य निरन्तर संघर्षों के कारण सदैव बदलती रहती थी। राज्यों के आपसी युद्धों में बारहवीं और तेरहवीं शती में दक्षिण के विभिन्न उपदेशकों के प्रगाढ़ धार्मिक क्रिया कलापों से उत्पन्न लोगों के मतभेद भी सम्मिलित हो गये।[13]

दक्षिण राज्य और अलाउद्दीन के बीच जब संघर्ष का वातावरण बना तब दक्षिण भारत के राज्य अत्यन्त सम्पन्न थे अतः संक्षेप में इस विषय पर चर्चा करना विषयानुकूल होगा। विभिन्न राज्यों के मध्य होने वाले युद्धों के बावजूद भी किसी विदेशी विजेता ने शताब्दियों से संचित हो रही दक्कन की सम्पत्ति नहीं लूटी थी। अनेक इतिहासकार और वस्साफ तथा मार्को पोलो जैसे यात्री दक्कन की प्रचुर सम्पत्ति का प्रमाण देते हैं।[14] माबर की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए मार्कोपोलो कहता है ''जब राजा की मृत्यु होती है तो उसका कोई भी पुत्र उसके कोष को स्पर्श करने का साहस नहीं करता, क्योंकि वे कहते हैं – जिस प्रकार हमारे पिता ने इस सारे कोष को एकत्र किया, उसी प्रकार हमें भी अपनी ओर से एकत्र करना चाहिए।

इस प्रकार इस राज्य में अपरिमिति कोष एकत्र हो गया। दक्षिण की सम्पत्ति के सम्बन्ध में लिखने वाला अन्य लेखक मसालिकुल अबसार'' का लेखक शिहाबुद्दीन अबुल अब्बास है। उसने लिखा है कि भारत में स्वर्ण शताब्दियों से प्रवाहित हो रहा है और कभी उसका निर्यात नहीं किया गया। अमीर खुसरो, बरनी और फरिश्ता सब इस पर एक मत हैं कि अलाउद्दीन और उसके सेनानायक मलिक काफूर द्वारा दक्षिण से लाया गया धन अपरिमित था। न केवल अलाउद्दीन बल्कि कुछ वर्षों पश्चात मुहम्मद तुगलक ने भी दक्षिण राज्यों से अपरिमित धन प्राप्त किया।

अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक द्वारा उत्तर को धन ले जाने के पश्चात् भी दक्षिण के बहमनी और विजयनगर राज्यों के पास विशाल कोष था। अरब व्यापारी अब्दुर्रज्जाक जिसने 14वीं शदी में दक्षिण का भ्रमण किया विजयनगर राज्य की शक्ति और समृद्धि का साक्ष्य देता है। वह लिखता है देश के अधिकांश भाग में अच्छी खेती होती है। और भूमि उपजाऊ है। राजा के कोष में तहखानों वाले प्रकोष्ठ हैं जिनमें पिघला हुआ सोना एक ठोस ढेर के रूप में भरा हुआ था। देश के सारे निवासी सम्पन्न और धनी थे, यहां तक कि बाजार के कारीगर तक जवाहरात और अलंकार पहिनते हैं।[15] फरिश्ता भी कहता है कि दक्कन में दरिद्र लोग भी स्वर्णाभूषण धारण करते हैं और कुलीन वर्ग के लोग सोने और चांदी की थालियों में भोजन करते हैं। इतनी वैभवशाली थी दक्कन की सम्पत्ति

जिसने उत्तर के सुल्तानों को इस समद्ध भूमि पर विनाशकारी अभियान करने के लिए प्रेरित किया।

दक्कन की सम्पत्ति से महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी भी अनभिज्ञ न थे। महमूद केवल गुजरात तक जा पाया, जबकि मुहम्मद को वहां से पीछे हटा दिया गया और यद्यपि इन दोनों विजेताओं में से कोई भी दक्कन तक न पहुंच पाया तथापि दक्षिण को विजित करने और उसकी सम्पत्ति प्राप्त करने का विचार उत्तर के महत्वाकांक्षी विजेताओं को आकर्षण की वस्तु हो गया था। अलाउद्दीन खिलजी पहला शासक था जिसने 1296 ई0 में दक्षिण में आक्रमण किया।

1296 ई0 में देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के सफल आक्रमण से बाध्य होकर उसे प्रतिवर्ष एलिचपुर की आय को भेजने के का वायदा किया था। तब से वह दिल्ली दरबार को वार्षिक कर भेजता रहा। 1305 और 1306 ई0 में उसने वार्षिक कर को दिल्ली नहीं भेजा। यह भी कहा गया कि रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिंघनदेव) इस बात के लिए उत्तरदायी था।16 इसामी के अनुसार रामदेव की स्वामिभक्ति अटूट थी किन्तु उस प्रदेश के निवासियों की सहायता से उसके पुत्र ने अपने पिता की इच्छा के विरूद्ध भी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। रामचन्द्र इतना उत्तेजित हुआ कि उसने अपने पुत्र को दण्डित करने के लिए अलाउद्दीन से प्रार्थना की।17 किन्तु अभियान की घटनाएं इस निष्कर्ष का

समर्थन नहीं करती। बरनी द्वारा दिया गया आक्रमण का कारण कि रामचन्द्र ने कुछ वर्षों से कर देना बन्द कर दिया था। सर्वाधिक विश्वसनीय जान पड़ता है। रामचन्द्र ने गलत अनुमान लगाया था। सुल्तान अलाउद्दीन देवगिरि का प्रचुर राजस्व हाथ से निकल जाना सहन नहीं कर सकता था।[18]

फलस्वरूप 1307 ई0 में उसने गुजरात में पकड़े गये ''हजार दीनारी'' दास मलिक नायब काफूर को एक विशाल सेना के साथ देवगिरि पर आक्रमण करने और रामदेव से बकाया कर वसूल करने के लिए भेजा। मलिक काफूर की 30,000 की सेना, ख्वाजा हाथी, ऐनुल्मुल्क मुल्तानी और गुजरात के प्रांत अलपखां की सेनाओं के आ जाने से और विशाल हो गयी। उनकी संयुक्त सेनाएं दुराग्रही मराठा राजा को प्रताड़ित करने, उससे तीन वर्षों का कर वसूल करने चलीं। फरिश्ता के अनुसार राजा कर्ण की पत्नी कमला देवी थी, जिसे गुजरात के पतन के पश्चात् शाही हरम में बलात् सम्मिलित कर लिया गया था। अपने भूतपूर्व पति से दो पुत्रियां थी, ज्येष्ठ पुत्री का देहान्त हो चुका था। किन्तु कनिष्ठ पुत्री जो गुजरात के आक्रमण के समय छः माह की शिशु थी राजा कर्ण के पास छूट गई थी।

जब रानी कमला ने सुना कि देवगिरि को एक सेना भेजी जा रही है जहां कर्ण ने शरण ली थी तो उसकी मातृत्व भावना जाग उठी ओर उसने सुल्तान से देवल देवी को प्राप्त करने का आग्रह किया। इस प्रकार

गुजरात की भूतपूर्व रानी अपने भूतपूर्व पति के लिए बहुत क्लेश और अपमान का कारण सिद्ध हुई।

पहले अलप खां ने राजा कर्ण के ऊपर आक्रमण किया। अलप खां के हाथों राजा कर्ण फिर पराजित हुआ। कर्ण ने देवल देवी को तुर्कों के हाथों से बचाने के लिए उसे रामचन्द्र के बड़े बेटे सिंघन के साथ विवाह के उद्देश्य से भेज दिया परन्तु संयोग से वह अलपखां के सैनिकों के साथ पकड़ी गयी और उसे सुल्तान के पास भेज दिया गया। थोड़े दिनों के पश्चात उसका विवाह शाहजादा खिज्र खां से कर दिया गया। अब काफूर ने द्रुतगति से देवगिरि की ओर कूच किया। रामचन्द्र एक बार फिर पराजित हुआ और काफूर ने उसे सुल्तान के पास भेज दिया। यद्यपि अलाउद्दीन विद्रोहियों के साथ कठोरता का व्यवहार किया करता था। किन्तु उसने रामचन्द्र देव के साथ काफी उदारता का व्यवहार किया। रामचन्द्र को सादर छः महीने तक राजधानी में रखा गया, उसे रायरायन की उपाधि तथा गुजरात में नवसारी जागीर दी गयी। और एक लाख सोने के टंके भी भेंट किये गये।[19]

इस उदारता का उद्देश्य भविष्य में दक्षिण के अभियानों में रामचन्द्र का सहयोग प्राप्त करना था। इसामी वस्साफ और हाजीउद्दवीर ने लिखा है कि सुल्तान ने रामचन्द्र की कन्या से विवाह भी किया था और उसी के पुत्र शहाबुद्दीन उमर को उसने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

अतः इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि सुल्तान ने अपने श्वसुर की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उद्देश्य से भी ऐसा बर्ताव किया है। रामचन्द्रदेव अलाउद्दीन की इस उदारता से काफी प्रसन्न हुआ। इतिहास कार बरनी ने लिखा है कि इसके बाद उसने कभी भी सुल्तान का विरोध नहीं किया। इस घटना के चार वर्ष बाद रामचन्द्र की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका ज्येष्ठ पुत्र सिंघन देव शासक बना। सिंघन जो एक देश भक्त स्वतन्त्रता प्रिय और कर्मठ शासक था वह तुर्कों की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। देवल देवी के छिन जाने से उसे अलाउद्दीन से व्यक्तिगत द्वेष था। अतः अपने राज्यारोहण के पश्चात् उसने स्वयं को तुर्कों की अधीनता से मुक्त कर लिया। सुल्तान को नियमित रूप से कर देना छोड़ दिया तथा जब काफूर ने होयसल राज्य में आक्रमण किया तो उसने दिल्ली की सेना की सहायता से इन्कार कर दिया।

अलाउद्दीन के लिए सिंघन के ये कार्य असहय हो गये। अन्त में उसने मलिक काफूर को सिंघन को कुचलने के लिए तथा देवगिरि पर आक्रमण करने का आदेश दिया। काफूर ने 1312 ई0 में देवगिरि राज्य के विभिन्न क्षेत्रों को रौंद डाला। युद्ध में सिंघन पराजित हुआ और उसकी हत्या कर दी गई। सिंघन को परास्त करने के बाद काफूर ने गुलमर्ग, रायचूर और मुदगल के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार कर लिया तथा कृष्णा

और तंगभद्रा नदी के मध्य के क्षेत्रों को जीत लिया। बाद में उसने अलाउद्दीन के आदेश पर राजा रामचन्द्र के दामाद हरपाल देव को देवगिरि का शासक नियुक्त किया और वह दिल्ली वापस लौट गया।[20] 1308ई. के अन्त तक रामचन्द्र देवगिरि वापस लौट गया। और उसने अलाउद्दीन के व्यवहार के लिए कृतज्ञता का अनुभव किया और तब से वह दिल्ली सुल्तान के प्रति निष्ठावान बना रहा। कभी भी उसने उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, और जीवन पर्यन्त वह राजधानी को कर भेजता रहा।[21]

अलाउद्दीन खिलजी द्वारा की रामदेव के प्रति किया गया व्यवहार एक कूटनीतिक चाल थी, अब दक्षिण में उसका अटूट मित्र रहता था, जिससे सुल्तान को उसकी भावी योजनाओं में सहायता मिल सकती थी। जैन ग्रन्थ ''नाभिनन्दन–जिनोद्धार–प्रबन्ध' ठीक ही कहता है कि देवगिरि जाकर अलाउद्दीन ने उसके शासक को अपने अधीन कर लिया, किन्तु विजय के एक स्तम्भ के रूप में उसे वहीं पुर्नस्थापित कर दिया गया। देवगिरि का अभियान वास्तव में एक महान सफलता थी। और सुल्तान अलाउद्दीन ने अपना ध्यान सुदूर दक्षिण के राज्यों की ओर किया। जैसा कि डॉ. आयंगर उचित ही कहते हैं ''दक्कन और सुदूर दक्षिण के इन अनेक आक्रमणों की तह में अलाउद्दीन द्वारा यथेच्छ स्वर्ण प्राप्त करने तथा इन राज्यों को कामधेनु बनाने से अधिक कुछ नहीं प्रतीत होता है।

क्योंकि हिन्दुस्तान को आंतरिक उपद्रवों और मंगोलों के आक्रमणों से मुक्त रखने हेतु अपनी सेना के कुशल संगठन के लिए उसे सदैव धन की आवश्यकता पड़ती रहती थी।[22]

वारंगल के विरुद्ध अभियान के समय उसने जो आदेश मलिक काफूर को दिये, उनसे स्पष्ट है कि वस्तुतः यही उसकी नीति थी। अब इस सत्य के बावजूद भी मुस्लिम सेनाओं ने गत दो अवसरों पर देवगिरि में ज्वलंत विजयें प्राप्त की थी, सुल्तान ने यह अनुभव कर लिया कि दक्षिण भारत एक दूरस्थ विदेशी भूमि है इसलिए मलिक नायब को दक्षिण भेजने के पूर्व अलाउद्दीन ने उसे कुछ बहुमूल्य अनुदेश दिये। उसने उससे कहा कि वह एक अपरिचित देश में जा रहा है और इसलिए उसे अत्यधिक हठी और उदण्ड नहीं होना चाहिए। उसे मलिक सिराजुद्दीन, आरिज ए–मुमालिक और अन्य महत्वूपर्ण अधिकारियों के साथ सहयोग पूर्वक कार्य करना चाहिए। उसे सैनिकों से नम्रता का व्यवहार करना चाहिए और विद्रोह का कोई कारण नहीं होने देना चाहिए। उसे सैनिकों के छोटे–मोटे दुराचारण और उपद्रवी व्यवहार पर भी ध्यान न देने की सलाह दी गयी हैं। यदि कोई सैनिक नया घोड़ा या कर्ज चाहता है तो उसे खुशी से देना चाहिए। संक्षेप में, उसे अधिकारियों और सैनिकों के प्रति इतना नम्र भी न होना चाहिए कि वे शत्रु बन जायें। जहाँ तक बारंगल के राजा से किये जाने वाले व्यवहार का सम्बन्ध है, मलिक काफूर को दुर्ग अधिकृत करके

राजा को अपदस्थ करने की सलाह दी गई और कहा गया कि यदि राय प्रताप रूद्रदेव अपना कोष और अपने हाथी समर्पित करने और तदनंतर वार्षिक कर देने के लिए तैयार हो जाता है तो शाही सेनानायक को अधिक जोर नहीं देना चाहिए, जिससे कहीं राय निराश होकर प्रतिरोध करने के लिए बाध्य न हो जाय। यदि वह वारंगल का सारा कोष और हाथी प्राप्त करने में सफल हो जाता है तो उसे राय को उससे भेंट करने के लिए आने को दबाव नहीं डालना चाहिए और अपने नाम तथा यश के लिए राय को दिल्ली नहीं लाना चाहिए।[23] ये अनुदेश पाकर मलिक काफूर ने लाला चंदोवे और एक विशाल सेना के साथ 31 अक्टूबर 1309 को दक्षिण की ओर अपने भाग्यशाली घोड़ों को ले जाने के लिए और तैलिंगाना राज्य को जिसकी राजधानी वारंगल थी, विजित करने के लिए दिल्ली से प्रस्थान किया।[24]

अलाउद्दीन ने सर्व प्रथम 1302 ई0 में जूना खां के नेतृत्व में उड़ीसा के मार्ग से एक सेना वारंगल विजय के लिए भेजी थी। किन्तु वारंगल का यह अभियान असफल रहा था। अतः सुल्तान ने पूरी तैयारी के साथ 1309 ई. में मलिक काफूर को पुनः वारंगल विजय के लिए भेजा। देवगिरि में राजा रामचन्द्र ने काफूर का स्वागत किया और उसे सभी प्रकार की सहायताएं दी। रामचन्द्र ने कुछ चुने हुए सैनिकों को काफूर के साथ कर दिया जो स्थानीय मार्गों से परिचित थे। सुल्तान के सैनिकों की

सुविधा के ख्याल से उसने मार्ग में स्थान–स्थान पर बाजार खुलवा दिये जिससे सैनिकों को दैनिक जीवन के प्रयोग में आने वाली वस्तुएं उचित मूल्य पर उपलब्ध हो जायें।[25]

रामचन्द्र देव ने काफूर की सेना के लिए रसद की व्यवस्था की मराठा सैनिकों को उसके साथ भेजा और स्वयं भी कुछ दूर तक उसके साथ गया। काफूर ने हीरों की खानों के जिलें बसीरगढ़ (भैरागढ़) के मार्ग से तेलंगाना में प्रवेश किया। मार्ग में उसने सिरबर (सिरपुर) के किले को विजय किया। और जनवरी 1310 ई. में तेलंगाना की राजधानी वारंगल के निकट पहुंच गया। वारंगल का किला पहले मिट्टी की और उसके बाद एक पत्थर की प्राचीर से सुरक्षित था। उसके चारों ओर पानी से भरी हुई खाई थी। परन्तु फिर भी प्रतापगढ़ देव द्वितीय अधिक समय तक अपनी रक्षा न कर सका और उसने सन्धि की इच्छा प्रकट की।[26]

वारंगल का दुर्ग पत्थर का बना था उसका निर्माण गणपति देव के समय में प्रारम्भ हुआ था और उसकी योग्य पत्नी प्रसिद्ध रूद्रम्बा देवी द्वारा पूर्ण किया गया था। वह दक्षिण भारत के प्रबलतम दुर्गों में से एक था। किले के आसपास अपने तम्बू गाड़ने के पूर्व मलिक काफूर ने दो बार उसका निरीक्षण किया और घेरा डाले जाने की आज्ञा दी। अमीर खुसरो अपनी चित्रमयी शैली में घेरे का वर्णन करता है – 15 शाबान (18 जनवरी 1310) को ख्वाजा नसीरूद्दीन सिराजुदद्दौला ने एक मशाल लेकर स्वयं

सैनिकों को व्यवस्थित किया। प्रत्येक टुकड़ी को किला घेर लेने और शत्रुओं की अग्नि से घेरा डालने वालों की रक्षा करने हेतु उनके नियत स्थान पर भेज दिया गया। प्रत्येक तुमन को एक हजार दो सौ रणभूमि दी गई। तम्बुओं द्वारा घिरी किले की कुल परिधि बारह हजार पांच सौ छयालिस गज थी।[27]

दूसरी ओर किले, सब कंगूरों पर वीर राय नियुक्त किये गये और जिन्हें पत्थर नहीं मिले उन्होंने ईंट और छोटे खंग नीचे घेरा डालने वालों पर फेंके जब घेरा डालने वाला पक्ष उस मार्ग पर मडरा रहा था जहां से खाई द्वारा सुरक्षित किल्ले पर आक्रमण किया जा सकता था, तेलंगाना राज्य के एक गवर्नर विनायक देव एकरात को पीछे से मुस्लिम सेना पर आक्रमण कर दिया और शाही शिविर में आतंक उत्पन्न कर दिया। दोनों पक्षों के अनेक सैनिक खेत रहे।

किन्तु अन्ततः हिन्दू लोग पराजित हो गये और आक्रमण निष्फल सिद्ध हुआ इसी समय वाम भाग के मालिक कारोबार ने पड़ोस पर छापा मारा और कुछ हाथी अधिकृत कर लिया। खाई भरने का कार्य तीव्रता से प्रारम्भ हो गया। शत्रु के आकस्मिक आक्रमण से सुरक्षा के लिए सैनिकों को वृक्ष गिराने और एक रोक निर्मित करने के आदेश दिये गये। मिट्टी पत्थर और अन्य वस्तुएं एक स्थान पर फैंककर खाई पूर दी गई और पुलिस सेना किले की बुर्जियों तक पहुंच गई। मालिक नायब ने

अधिकारियों की एक बैठक बुलवाई और सब सेनानायक एक मत से इस बात पर सहमत हो गये कि किले की दीवारों पर आक्रमण करने हेतु पाशिब का निर्माण करना कठिन कार्य है। फरवरी के मध्य तक बाहरी किला अधिकृत कर लिया गया और शाही सेनापति ने किलेबन्दी की दो पंक्तियों के मध्य स्थित दूसरी खाई पार करके पत्थर के भीतरी किले का घेरा आरम्भ किया। दिल्ली में सुल्तान वारंगल के अभियान की प्रगति के बारे में जानने के लिए बहुत उत्सुक था।

दिल्ली से वारंगल तक मार्ग में जो चौकिया स्थापित की गई थीं और जिससे अलाउद्दीन शाही सेना के सम्बन्ध में सूचनाएं प्राप्त करता था वे शत्रु की कार्यवाही के कारण अव्यवस्थित हो गई। फलस्वरूप एक महीने से अधिक समय तक सुल्तान को मलिक नायब को कोई समाचार नहीं मिला। अत्यन्त व्यग्र होकर अलाउद्दीन ने बयाना के काजी मुगीसुद्दीन को उस समय के प्रतिष्ठित संत शेख निजामुद्दीन औलिया के पास सेना की स्थिति के सम्बन्ध में जानने के लिए भेजा। निजामुद्दीन ने यह कहकर बहुत उत्साहबर्धक उत्तर दिया कि वह इस समय न केवल सफलता की आशा कर रहा है, बल्कि भविष्य में भी विजयों की आशा कर रहा है।

सुल्तान अलाउद्दीन संत के कथन से बहुत प्रसन्न हुआ, और परिस्थितियों के विलक्षण संयोग से काफूर की वारंगल विजय का समाचार भी उसी दिन राजधानी पहुंचा।[28] जब घेरा पर्याप्त समय तक चलता रहा

और किले के भीतर लोगों की दशा अत्यन्त संकटपूर्ण हो गई, प्रताप रूद्र देव ने मालिक काफूर के पास सन्धि की शर्तों का सन्देश भेजा। उसने कोष, मूल्यवान पत्थर, हाथी, घोड़े और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं देने और उसी मूल्य का वार्षिक कर दिल्ली भेजने का वायदा किया। उसने अपने सोने की प्रतिमा, जिसके गले में सोने की जंजीर पड़ी थी, अपनी विनयशीलता और बिना शर्त समर्पण के संकेत के रूप में भेजी।[29]

अमीर खुसरो कहता है कि मलिक काफूर ने अलाउद्दीन की सलाह के अनुपालन में राय से उसकी सारी सम्पत्ति की मांग की और धमकी दी कि यदि उसने अपने लिए कुछ छिपाया तो नगर की समग्र जनसंख्या का संहार कर दिया जायेगा। स्वयं को असहाय पाकर रूद्रदेव ने अपने ऊपर आरोपित सन्धि की शर्तों को मानना स्वीकार कर लियाऔर अनेक पीढ़ियों से संचित कोष समर्पित कर दिया। बरनी के अनुसार प्रतापरूद्र देव ने उसे 100 हाथी 7000 घोड़े और अनेक मूल्यवान वस्तुएं भेंट की और वर्षों में उतना ही धन करके रूप में देने का वायदा किया।[30]

राय द्वारा समर्पित मूल्यवान पत्थरों में प्रसिद्ध कोहिनूर भी था जो खाँफी खां और अनेक परवर्ती लेखकों के अनुसार मलिक काफूर द्वारा दक्कन ले जाया गया।[31] लूट में प्राप्त हुई सम्पत्ति को एक हजार ऊंटों पर लादकर मार्च 1310 ई0 में काफूर उत्तर भारत वापस लौटा।[32] कहा जाता है कि खाफी खां ने भी लिखा है कि इसी अवसर पर प्रतापरूद्रदेव ने

काफूर को संसार प्रसिद्ध 'कोहिनूर' हीरा दिया था जिसे काफूर ने अलाउद्दीन को भेंट किया।

सन्धि की शर्तों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि राय ने वास्तव में जो कुछ समर्पित किया विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। साथ ही राय ने वास्तव में जो कुछ समर्पित किया वह सम्भवतः उसकी पूरी संपत्ति के तुल्य नहीं हो सकता। जो भी हो, एक समकालीन हिन्दू लेखक विश्वनाथ कविराज ने उचित ही कहा हौ कि सुल्तान अलाउद्दीन के साथ युद्ध या शांति करने में शायद ही कोई अन्तर पड़ता था, पहले में मृत्यु मिलती थी और दूसरे में जो कुछ भी होता वह हाथ से चला जाता था।[33]

मार्च 1310 तक मलिक काफूर देवगिरि धार और झांई होकर उत्तर को लौट गया। उसके द्वारा अधिकृत लूट का धन इतना अधिक था कि एक हजार ऊंट धन के भार से कराहते रहे।[34]

काफूर के दिल्ली आगमन के पूर्व ही उसकी विजय का समाचार सुल्तान के पास पहुंच चुका था। विजय का समाचार प्राप्त होने पर उत्सव मनाए गये और सफलता के सुखद समाचार मस्जिदों के मिम्बरों से पढ़े गये। 23 जून 1310 को चबूतरा–ए–नासिरा के सामने एक काले शामियाने के नीचे सुसज्जित दरबार में विजयी वजीर का स्वागत किया गया। वारंगल से लाए गये धन का सुल्तान के समक्ष प्रदर्शन किया गया।

सुल्तान अपने प्रिय सेनापति से बहुत खुश हुआ और उसे सम्मानित तथा पुरस्कृत किया।

वारंगल से लौटने के पश्चात मलिक काफूर के पास दक्कन के सम्बन्ध में बताने के लिए बहुत बातें थी। वह प्रायद्वीपीय भारत से अच्छी तरह परिचित हो गया था और उसने सुल्तान को सुदूर दक्षिण में स्थिति द्वारा समुद्र और माबर की सम्पन्न रियासतों के बारे में बताया। उसने अलाउद्दीन को बताया कि जब वह वारंगल में था तब उसने सुना था कि माबर के राज्य के पास 500 विशाल हाथी है। उसने उस दूरस्थ रियासत में एक अभियान ले जाने की उत्कट इच्छा प्रकट की।

अलाउद्दीन भारत के सुदूरतम कोनों में अपनी पताका फहराती देखने का अपने वजीर से भी अधिक उत्सुक था और उसने मलिक नायब को एक अभियान का नायक बनाकर भेजने का पहले ही निर्णय कर लिया था। अभियान भेजने का वही उद्देश्य था जो पिछले दो अभियानों का था अर्थात कोष और हाथी प्राप्त करना किन्तु अमीर खुसरो कहता है कि अब पवित्र उद्देश्य के साथ सम्राट ने दक्षिण को एक अभियान भेजने का विचार किया, जिससे शरीयत का प्रकाश वहां पहुंच सके।

खिलजी आक्रमण के समय होयसल राज्य पर बल्लाल तृतीय का शासन था। यह बड़ा ही महत्वाकांक्षी और प्रतापी शासक था। अपने हौयसल राज्य की सीमा और शक्ति का काफी विस्तार किया था। इस

प्रकार होयसल राज्य का विस्तार बहुत हुआ और इसमें कांगू प्रदेश, कोंकण के क्षेत्र और समस्त मैसूर राज्य सम्मिलित था। वल्लाल एक प्रजापालक शासक था, अतः उसे जनता भी काफी चाहती थी। उन दिनों देवगिरि और होयसल राज्यों के बीच निरन्तर संघर्ष चल रहा था। जब काफूर की सेना ने होयसल पर आक्रमण किया उस समय वीर वल्लाल पाण्डय राज्य के गृह युद्ध में वीर पाण्ड्य की सहायता करने दक्षिण की ओर गया हुआ था।[35] अलाउद्दीन की महात्वाकांक्षा अब दक्षिण में अपनी सफलताओं से काफी बढ़ गई थी। दक्षिण से वापस आने के केवल पांच माह बाद 20 नवम्बर 1310 ई0 को मलिक इज्जुदौला नायब काफूर पुनः एक विशाल सेना के साथ माबर की ओर रवाना हुआ।

माबर प्रदेश समुद्र तट पर स्थित था और दिल्ली से इतना दूर था कि अभियान के साथ यात्रा करने वाला व्यक्ति बारह माह की यात्रा के पश्चात ही वहां पहुंच सकता है। सेना जमुना नदी के किनारे–किनारे दक्षिण की ओर बढ़ी और उस नदी के तट पर स्थित टंकल या नटगल में ठहरी। सेना वहां पन्द्रह दिन तक ठहरी और जब सारे सैनिक पहुंच गये और उनका निरीक्षण हो गया तब वह पुनः दक्षिण की ओर बढ़ी। सैनिकों ने दुर्गम मार्ग पार किये और वे कैथुन नामक एक स्थान पर पहुंचे। तदन्तर उन्होंने नर्मदा और उससे छोटी अन्य दो नदियां पार की। इस यात्रा के अन्त में शाही सेनानायक ने प्रतापरुद्रदेव के दूतों से भेंट की। राजा ने

सुल्तान के लिए तेइस हाथी भेंट के लिए भेजे थे। वहां सैनिकों का जमाव हुआ और तेलंगाना के राजा द्वारा भेंट में दिये गये हाथी दिल्ली भेज दिये गये। ताप्ती नदी पार की गई और सेना 4 फरवरी 1311 को देवगिरि पहुंच गई। रामचन्द्र देव ने उसे हथियारों और रसद की सहायता नहीं दी।[36]

जिस समय काफूर होयसल राज्य की सीमा पर पहुंचा, उस समय वीर पाण्डय और सुन्दर पाण्ड्य के पारस्परिक झगड़े से लाभ उठाने के लिए वीर वल्लाल तृतीय पाण्डय राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने हेतु गया हुआ था। यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि मारावर्मन कुलशेखर के दो पुत्र थे – सुन्दर पाण्डव और वीर पाण्डव । राजा ने वीर का पक्ष लिया और उसे अपना उतराधिकारी नियुक्त कर दिया। सुन्दर यह खुला पक्षपात सहन न कर सका और क्रोधावेग में उसने अपने पिता की हत्याकर डाली और मरडी (मदुरा) में उसने राजमुकुट धारण कर लिया।[37] इस घृणित कार्य से दोनों भाइयों में कटु संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अपने चचेरे भाई की सहायता से वीर पाण्ड्य ने सुन्दर को पराजित कर डाला। सुन्दर उत्तर की ओर भाग खड़ा हुआ और उसने दिल्ली में अलाउद्दीन से या उसके सेनापति से सहायता मांगी।[38]

पाण्डव देश की अशांत स्थित से वीर वल्लाल तृतीय अपनी सेना लेकर बढ़ने और दोनों भाइयों की अनबन से लाभ उठाने के लिए प्रवृत्त हुआ। उसी समय उसी के राज्य पर मलिक काफूर के आक्रमण का

समाचार बिजली की भांति उसके कानों पर पड़ा। अब वह अपने देश की रक्षा करने के लिए लौट पड़ा।

कापूर को हायसलों और पाण्डयों की दक्षिणी रियासतों में होने वाली घटनाओं के बारे में बन्द्री में सबकुछ ज्ञात हो गया था।उसने एक युद्ध समिति बुलवाई और उसके निर्णयों के अनुसार 14 फरवरी 1311 को 10,000 चुने हुए घोड़ों के साथ रवाना हो गया और पहाड़ियों तथा धाराओं को पार करते हुए वह 25 फरवरी 1311 ई0 को द्वार समुद्र के दुर्ग के समक्ष आ गया था। उसने ऐसे महान संकट के समय की जाने वाली कार्यवाही के सम्बन्ध में अपने मन्त्रियों और सेनापतियों से सलाह ली। उन्होंने एकमत से उसे समर्पण करने के स्थान पर युद्ध करने की सलाह दी। उन्होंने तर्क दिया कि एक अपमानजनक सन्धि के आघात के पश्चात्, राज्य की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर पाना असम्भव होगा।

होयसल राजा को संकट में देखकर वीर पाण्डय ने भी वल्लाल की सहायतार्थ एक सेना भेजी किन्तु बल्लाल आरम्भ से ही निराशावादी था। उसने छुटपुट लड़ाइयों तो लड़ी थी किन्तु आक्रान्ताओं से अन्तिम रूप से युद्ध करने से बचता था। इसी समय उसने गैमू मल नामक एक व्यक्ति को मुस्लिम सेना की शक्ति और परिस्थिति की जानकारी लेने के लिए भेजा। उससे यह जानकर की शत्रु प्रबल योद्धा है और रामचन्द्र और प्रताप रूद्र जैसे शासकों ने उसके सामने समर्पण कर दिया है। उसने सन्धि की

प्रार्थना की। अमीर खुसरो के अनुसार बालकदेव नायक नाम का व्यक्ति मालिक नायब के शिविर में गया और काफूर के सम्मुख उसने समर्पण कर दिया।[39]

उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली, वार्षिक कर देना स्वीकार किया, तथा कफूर को हाथी घोड़े तथा अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्पित कर दी। वीर वल्लाल स्वयं काफूर के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसे पाण्डयों के राज्य पर आक्रमण करने के रास्ते को भी बताने का आश्वासन दिया। बाद में वह स्वयं दिल्ली गया जहां अलाउद्दीन ने उसका सम्मान किया। अलाउद्दीन ने वीर वल्लाल को उसका राज्य वापस कर दिया। जब वह अपनी राजधानी वापस लौटा तो अलाउद्दीन ने उसे एक विशेष खिलअत, एक मुकुट एक छत्र और दस लाख टंका भी दिये। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपनी कूटनीति से वीर वल्लाल को सन्तुष्ट करके दक्षिण भारत में एक और शक्तिशाली मित्र बनाने में सफलता प्राप्त की।[40] सन्धि की शर्तें तय हो जाने के पश्चात् मलिक नायब द्वारसमुद्र में एक सप्ताह ठहरा। तदुपरान्त उसने बल्लाल देव से माबर का मार्ग जिससे शाही सेनानायक पूर्णतः अनभिज्ञ थे, बताने के लिए कहा। पराजित होयसल राजा के पास विजयी सेनानायक का कथन मानने के अतिरिक्त कोई चारा न था। और वह साथी राज्य के विनाश के लिए मलिक काफूर का दर्शन करने के लिए राजी हो गया।[41]

पाण्डय राज्य में वीर पाण्डय और सुन्दर पाण्डय में सिंहासन के लिए झगड़ा था और अपने भाई से पराजित होकर सुन्दर पाण्डय ने सम्भवतया अलाउद्दीन से दिल्ली जाकर अथवा काफूर से जो उस समय दक्षिण में ही था सहायता मांगी थी। डॉ0 वीवी सक्सेना ने इस विचार से असहमति व्यक्त की है। उनके अनुसार काफूर ने दोनों भाइयों के विरूद्ध अभियान किया था। काफूर के आक्रमण का उद्देश्य भी सुदूर दक्षिण तक पहुंचाना था। इस कारण होयसल राज्य में कुछ दिन रहकर वह पाण्डय राज्य की सीमाओं पर पहुंच गया। ऐसे समय में जबकि मलिक काफूर दक्षिण में अग्नि और तलवार का ताण्डव कर रहा था, ईरान के इलखान सुल्तान अलजैदू खुदा बंदा का एक दूत मण्डल अलाउद्दीन के दरबार में पहुंचा। वे अपने अधिपति से सन्देश लाए थे कि दिल्ली के सुल्तानों के सम्बन्ध मंगोल खाकानों चगताई और अधिकताई से सदैव ही अच्छे रहे हैं। किन्तु यह विचित्र प्रतीत होता है कि अलजैतू के राज्यारोहण के पश्चात् से सुल्तान अलाउद्दीन ने मित्रताके पुराने सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिए न तो कोई बधाई सन्देश ही भेजा और न कोई समाचार ही। पुरानी मित्रता को पुनर्जीवित करने का यह उपयुक्त समय है।[42] उस सन्देश में अलजैतू ने अत्यन्त मधुर शब्दों में यह भी सुझाया कि भारत के सुल्तान की एक पुत्री का विवाह ईरान के सत्तारूढ़ इलखान से किया जा सकता है।

अलाउद्दीन ने जिसके पास अब विशाल कोष हो गया था और जिसने उत्तर और दक्षिण में अभूतपूर्व विजयें की थी, अलजैतू के विवाह प्रस्ताव को अपने गौरव का अपमान समझा और उसने दूतमण्डल के सारे अठारह सदस्यों को बन्दी बना लिया। उसका क्रोध इन लोगों को बन्दी बनाने से ही शान्त नहीं हो गया, उसने बाद में उन्हें हाथियों के पैरों तले कुचले जाने का आदेश दिया। वस्साफ कहता है कि ऐसे कूटनीतिक विहीन जघन्य कृत्य द्वारा उसने अपने अच्छे नाम का मोती नील नदी में फैंक दिया।[43]

होयसल राज्य की पराजय के बाद काफूर ने माबर विजय का निश्चय किया। उन दिनों माबार (पांड्य) राजवंश के राजकुमारों के बीच गृहयुद्ध चल रहा था। उन्हें पराजित करने का इससे अच्छा अवसर कब मिलता।[44] 10 मार्च 1311 ई0 को काफूर द्वारसमुद्र से माबर के लिए रवाना हुआ। फुतूहुस सलातिन के लेखक के अनुसार पराजित होयसल राजा मलिक काफूर के साथ सुदूर दक्षिण के अभियान में गया और उस अनजाने देश में उसने शाही सेना का मार्ग दर्शन किया। जिस प्रदेश से होकर शाही सेना गई वह इतनी अधिक दुर्गम और पहाड़ी थी कि नुकीले पत्थरों से घोड़ों के टाप कट गये, और प्रत्येक रात्रि को सैनिक ऐसी भूमि पर सोते थे जो ऊंट की पीठ से भी ऊंची नीची थी। इसामी के अनुसार

बहराम करा, कतलानिंहग, महमूद सरतीहा, और आबाजी मुगल जैसे उच्चाधिकारियों के अन्तर्गत एक निरीक्षक दल शाही सेना के साथ गया।

प्रतिदिन इन नायकों में से एक व्यक्ति उस प्रदेश की भाषा जानने वाले कुछ व्यक्तियों के साथ आगे चला जाता था और शत्रु के प्रदेश की स्थिति के सम्बन्ध में शाही सेनानायक के पास समाचार लाता था। अचानक अबाजी मुगल ने शाही सेना छोड़कर माबर के राय के अन्तर्गत कार्य करने का विचार किया। उसने तो मलिक काफूर को मारने का भी विचार किया। उसने कुछ लोगों से मिलकर यह तय किया कि उसे माबर के राय के पास ले जायेंगे। और वहां उसके लिए एक सम्मान पूर्ण पद ढूंढ देंगे। किन्तु जिस समय वह मुख्य सेना के आगे चल रहा था उसके सैनिकों की मुठभेड़ माबर की सेना की एक टुकड़ी से हुई। किंकर्तव्यविमूढ़ और परेशान होकर अबाजी जल्दी पीछे हट गया और काफूर के साथ हो लिया। और जब शाही सेनापति को ये सब बातें ज्ञात हुई तो उसने अबाजी को जंजीरों से बांधकर आगे बढ़ता गया।[45] पांच श्रम साध्य यात्राओं के पश्चात वह माबर की सीमा पर पहुंचा। सेना आगे बढ़ती गई और तरमली और तबर नामक दो दर्रो को पार करने के पश्चात सेना मदुरा पहुंची, जहां से सारे निवासियों को मौत के घाट उतार दिया गया था।

तत्पश्चात् कनोबरी नदी से प्रस्थान करके सेना बिरधुल को चली। वीर पाण्ड्य कन्दूर की आरे भाग गया। किन्तु उसने स्वयं को सुरक्षित नहीं

किया और वहां से भी वह जंगलों की ओर भाग गया। जहां राय भी गया, मलिक काफूर उसका पीछा लगातार करता रहा। लगभग बीस हजार मुसलमान जो कालान्तर में दक्षिण भारत में बस गये थे और हिन्दुओं की ओर से लड़ रहे थे, शाही पक्ष की ओर चले गये और उनके प्राण बच गये।[45]

इन लोगों की सहायता से शाही सेना ने भगोड़े राजा की खोज खबर जानने का प्रयास किया, किन्तु घनघोर वर्षा ने उन्हें विरधुल लौटने के लिए बाध्य कर दिया। तथापि भगोड़े राजा का पीछा नहीं छोड़ा गया और सेना ने पुनः विरधुल से उसका पीछा करने के लिए प्रस्थान कर दिया। वर्षा की झड़ी लगी थी और सेना पूर्णतः जलप्लावित स्थानों से गुजरी। समाचार प्राप्त हुआ कि राय कन्दुर नगर की ओर भाग गया। शाही सेना उस शहर की ओर बढ़ी किन्तु वीर पाण्डय वहां से भी भाग निकला।

मलिक काफूर के हाथ लगभग 120 हाथी लगे जिस पर कुछ कोष भी लदा हुआ था। मलिक काफूर का वास्तविक उद्देश अपने मित्र सुन्दर की सहायता देने की अपेक्षा अपने शत्रु वीर पाण्डय का विनाश करना था। उसने कन्दुर की जनता का संहार कर डाला, किन्तु यह निरर्थक रहा क्योंकि राय ने वह स्थान बहुत पहले त्याग दिया था। यह सूचना मिली की वह जटकूटा की ओर भाग गया है मलिक नायब उस दिशा की ओर चला किन्तु कंतकाकीर्ण वनों के कारण आगे जाना असम्भव हो गया। और

पुनः कन्दुर लौट आया। जहां उसने और अधिक हाथियों और कोष की खोजबीन की।

इसी समय उसने कन्दुर के आस–पास स्थित स्थानों के मन्दिरों और कोषागारों के सम्बन्ध में सूचना एकत्र कर ली थी। उसे ऐसी सूचना मिली कि बरमतपुरी में एक स्वर्ण मन्दिर है और राय के हाथी वहीं एकत्र हुए हैं, मन्दिर पर छापा मारा गया और 250 हाथी अधिकृत कर लिये गये। शाही सेना वीर पाण्डय का पीछा करते हुए आगे बढ़ती ही गई।47

सन् 16 अप्रैल 1311 को वे कुम नामक नगर को पहुंचे और कुछ दिनों पश्चात् वे मदुरा लौट आए और ऐसा अनुमान था कि वीर पाण्डय वहां है। राय अपने परिवार और कोष के साथ पुनः वहां से भाग गया था और जगनर या सोक्क नाथ के मन्दिर में केवल दो या तीन हाथी रह गये थे। अब तो काफूर के असन्तोष की सीमा न रही और उसने क्रोध में आकर मन्दिर में आग लगा दी। इस समय तक उसका धैर्य समाप्त हो चुका था।[48] उसने सप्ताहों और महीनों तक शहरों में जंगलों में और पहाड़ियों में लगातार राय की खोज की किन्तु सर्वत्र असफलता ही हाथ लगी। और यह देखकर कि वह इतनी अधिक सम्पत्ति का स्वामी हो गया है और उसने इतने अधिक हाथी अधिकृत कर लिए हैं, उसने यह निरर्थक सोच त्याग कर घर लौटने का निश्चय किया। लौटने के पूर्व उसने लूट की सामग्री को व्यवस्थित, वर्गीकृत किए जाने का आदेश दिया। लूट में

उसे 512 हाथी, 5000 अरबी यमनी और सीरियाई नस्लों के घोड़े और विभिन्न प्रकार के जवाहरात प्राप्त हुए थे।[49]

अपने कार्य के इन पुरस्कारों के साथ रविवार, 25 अप्रैल 1311 को मलिक काफूर ने शिविर उखाड़े जिससे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए। दिल्ली की ओर उसी ऊबड़ खाबड़ मार्ग से रवाना हुए, जिससे वे दक्षिण की विजय के लिए गये थे। छः माह की कठिन यात्रा के पश्चात वे दिल्ली पहुंचे। सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने विजयी सेनापति और उसके सैनिकों का भव्य स्वागत किया। उसने सीरों के हजार सितून महल में एक दरबार का आयोजन किया। वहां मलिक काफूर ने सुल्तान के समक्ष वह सब प्रस्तुत किया जो वह दक्षिण से लाया था।

बरनी कहता है कि मुसलमानों द्वारा प्राप्त दक्षिण की सम्पत्ति इतनी थी कि दिल्ली अधिकृत किये जाने के पश्चात कभी भी इतना कोष अधिकृत नहीं किया गया था ऐसे अवसरों पर अलाउद्दीन अपनी उदारता का प्रदर्शन करने से न चूकता था, उसने अपने अमीरों को क्रमशः दो एक आधा मन सोना दिया। होयसल राजा बल्लालदेव मलिक काफूर के माबर अभियान के समय काफूर का साथ देने और माबर के त्वरित विनाश में सहायता देने के पश्चात् काफूर के साथ दिल्ली आया था। सुल्तान बल्लाल की सहायता और स्वामिभक्ति से बहुत प्रसन्नत हुआ। उसे एक विशाल

खिलअत, एक मुकुट और छत्र दिया और दस लाख टंका की थैली भी भेंट स्वरूप दी।

होयसल राजा कुछ समय तक दिल्ली में ठहरा और सुल्तान ने जब उसका राज्य उसे वापस कर दिया तो वह द्वार समुद्र लौट आया। वास्तव में राजनीतिक रूप से पाण्ड्य राज्य पर काफूर का आक्रमण महत्वहीन था किन्तु आर्थिक रूप से इसकी सफलता पर कोई शक नहीं किया जा सकता।[50]

अलाउद्दीन ने दक्षिण के देवगिरि राजाको तीसरी बार भी निशाना बनाया और 1312 –1313 ई. में मलिक काफूर को पुनः दक्षिण विजय के लिए भेजा सुल्तान अलाउद्दीन के सबसे पुराने और अत्यन्त निष्ठावान मित्र रामदेव का 1312 ई. में देहान्त हो गया। और उसका उत्तराधिकारी पुत्र शंकर देव देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। 1296 ई. में पिता के अपमान जनक समर्पण के बाद उसका दूसरा अपमान यह हुआ कि उसकी मंगेतर देवलरानी उससे छीन ली गई। इस अपमान ने आग में घी का काम किया और सिंघन के हृदय में शत्रुता की आग पुनः प्रज्ज्वलित हो गई। उसे इतना अधिक रोष था कि यदि इसामी पर विश्वास किया जाय तो दिल्ली शासन के विरूद्ध खुली शत्रुता अपनाने से सिंहन को रोकने हेतु रामचन्द्र को अलाउद्दीन से सहायता मांगने के लिए बाध्य होना पड़ा।[51]

1312–13 ई0 में सिंघन (शंकरदेव) अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सिंहासनासीन हुआ और जैसी की आशा थी। उसने दिल्ली सल्तनत के सारे सम्बन्ध तोड़ लिए और स्वतंत्रता पूर्वक राज्य करने लगा। इसी समय तैलिंगाना के राजा प्रतापरूद्र ने अत्यधिक भय के कारण अपना वायदा पूरा करने के लिए अलाउद्दीन के पास 20 हाथी और इस आशय के साथ एक पत्र भेजा कि अपने वायदे के अनुसार वह सम्राट द्वारा नियुक्त किसी भी व्यक्ति को वार्षिक कर चुकाने को तैयार है।[52]

फरिश्ता के अनुसार मलिक नायब काफूर मल्का ए जहान और उसके पुत्र खिज्र खां से डरता था और उनसे शत्रुता भी रखता था। उसने सुल्तान से आग्रह किया कि वह उसे कर वसूल करने के लिए दक्कन भेज दे। उसने दुर्विनीत सिंघन को दण्डित करने और दक्कन को विद्रोही तत्वों से मुक्त करने का वायदा किया। अलाउद्दीन ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। और दुर्विनीत यादव राजा को कुचलने के बार देवगिरि पर शासन करने के लिए मलिक नायब को नियुक्त कर दिया। पुनः एक बार मलिक काफूर आस–पास जिस किसी राजा ने सिर उठाया उसे कुचलते हुए दक्कन की ओर चला।

दिल्ली में अलाउद्दीन की पत्नी मलिका–ए–जहान और उसके भाई अलपखां ने काफूर के प्रभाव को कम करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे।

इस कारण काफूर स्वयं दक्षिण जाने के लिए उत्सुक था। और अलाउद्दीन ने 1313 ई. में उसे देवगिरि पर आक्रण करने के लिए भेजा।[53]

वीर मराठा सिंघन जो आजीवन दिल्ली का आधिपत्य मानने के विरूद्ध रहा, आक्रमण की प्रबलता के सामने न ठहर सका और युद्ध में मारा गया। इसामी का कथन है कि राजकुमार ने बिना युद्ध किये देवगिरि खाली कर दिया, स्वयं ही सन्देहास्पद प्रतीत होता है क्योंकि जब तक मालिक नायब दक्कन में रहा सिंहासन के बारे में कुछ न सुनायी पड़ा। काफूर के दिल्ली लौटने के बाद सिंघन का नहीं बल्कि रामदेव के जमाता हर पाल देव का देवगिरि के शासक के रूप में उल्लेख किया गया है। यादव प्रदेशों को पुनः अधिकृत करने के पश्चात मलिक नायब ने तेलंगाना और होयसल राज्यों के आस–पास के कुछ अन्य नगरों पर धावा मारा और दक्कन के निवासियों के हृदय में ऐसा आतंक उत्पन्न कर दिया कि दिल्ली के शासन के प्रतिरोध के अन्तिम अवशेष भी प्राप्त हो गये।[54]

मलिक काफूर देवगिरि लौटा और वहां उसने अपना मुख्यालय स्थापित कर लिया। उसकी निष्ठा और शक्ति के कारण ही दक्कन में सल्तनत की प्रतिष्ठा और शक्ति का प्रभाव सुल्तान की मृत्युपर्यन्त बना रहा।[55]

मलिक नायब ने तेलंगाना और कर्नाटक रियासतों से कुछ वर्षों का कर राजधानी भेजा। वह लगभग 1314 तक दक्कन में रहा क्योंकि इसी

वर्ष अलाउद्दीन गम्भीर रूप से रोगग्रस्त हो गया था और उसने उसे दिल्ली बुला लिया।

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय न पूर्ण थी न स्थायी। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपने राज्यों में मिलाने की नीति अपनायी थी। वह उनसे केवल अपने आधिपत्य को स्वीकार कराकर वार्षिक कर चाहता था। इसमें भी उसकी सफलता पूर्ण नहीं थी। देवगिरि और होयसल राज्यों ने निस्सन्देह उसकी सत्ता को मान लिया। परन्तु तैलंगाना के शासक प्रताप रूद्रदेव का व्यवहार सर्वदा संकट पूर्ण रहा और पाण्ड्य शासक वीर पाण्डय ने अन्त तक उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अलाउद्दीन की विजय स्थायी भी नहीं मानी जा सकती। मलिक काफूर को दवेगिरि पर दुबारा आक्रमण करके सिंघनदेव से युद्ध करना पड़ा, तेलंगाना और कर्नाटक पर आक्रमण करने पड़े। और देवगिरि को सैनिक छावनी बनाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण के राज्य विजेता के हटते ही दिल्ली सल्तनत के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास आरम्भ कर देते थे। अतः यह माना जा सकता है कि अलाउद्दीन के समय की दक्षिण भारत की विजय अस्थिर थी।

सन्दर्भ सूची

1. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999 पृ. 129
2. फरिश्ता – पृ. 114
3. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000 पृष्ठ–126
4. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 130
5. मुस्लिम वृत्तान्तकारों का देवगिरि या देवगिर,आधुनिक दौलताबाद है।
6. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, सन् 1964, पृ. 38
7. जे.एफ. फ्लीट, डायनेस्टीज आफ दी केनारीज डिस्ट्रिक्स, मुम्बई, सन् 1836, पृ. 511
8. भण्डारकर, अर्ली हिस्ट्री आफ दि दक्कन, पृ. 88–89
9. किन्केड और पारसनीस, ए हिस्ट्री आफ दि मराठा पीपुल, पृ. 37
10. फरिश्ता पृ. 95
11. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 130
12. इण्डियन एन्टिक्वैरी, 1915 पृ. 44
13. किशोरी सरन लाल, खिलजी वंश का इतिहास आगरा, 1964 पृ. 227
14. यूल, सेर मार्कोपोलो, पृ. 323
15. मुल्लाउस सादैन, इ.तथा डा. चतुर्थ, पृ. 106–07

16. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत आगरा, सन् 2000, पृ. 127
17. फुतूह, पृ. 274–76
18. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ. 230
19. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 130
20. वही पृ. 130–31
21. बरनी – पृ. 326
22. आयंगर, पृ. 87
23. बरनी, पृ. 327–28
24. के.एस. लाल खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ. 234
25. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 131
26. एल.पी. शर्मा मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000 पृ. 128
27. खजाइन हबीब अनु. पृ. 63
28. बरनी, पृ. 330–32
29. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000 पृ. 128
30. फरिश्ता, पृ. 119
31. लेनपूल, औरंगजेब पृ. 150
32. एल.पी.शर्मा, मध्यकालीन भारत आगरा, 2000 पृ. 128
33. वैंकटरमैया – पृ. 22
34. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ. 339

35. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 131
36. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत आगरा, सन् 2000 पृ. 129
37. आयंगर, पृ. 97
38. वस्साफ पृ. 531
39. किसोरी सरन लाल, खिलजी वंश का इतिहास आगरा, 1964 पृ. 243
40. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत आगरा, सन् 2000 पृ. 129
41. खजाइन हबीब का अनुवाद पृ. 91
42. हावर्थ हिस्ट्री आफ दि मंगोल्स, पृ. 479
43. वस्साफ पृ. 528
44. एल.पी. शर्मा, मध्यकालीन भारत आगरा, सन् 2000 पृ. 29
45. फुतूह पृ. 288
46. बरनी पृ. 222
47. इण्डि0 एण्टि0 – 1911, पृ. 131–44
48. खजाइन हबीब, पृ. 105–07
49. के0एस0 लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964 पृ0250
50. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ. 132
51. फुतूह पृ. 274
52. फरिश्ता पृ. 122

53. एल0पी0 शर्मा, मध्यकालीन भारत, आगरा, सन् 2000 पृ. 130

54. के.एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास आगरा, 1964 पृ. 252

55. ऐपि. इण्डो मोस्लेमिका, 1927–28, पृ. 16–17

षष्ठ अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति की सफलता और असफलता

षष्ठ अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति की सफलता और असफलता

अलाउद्दीन आद्योपान्त एक साम्राज्यवादी था, किन्तु विजय और प्रादेशिक विस्तार की अनवरत कामना के बावजूद भी वह विवेकहीन प्रसारवाद के खतरों से पूर्ण परिचित था। रणथम्भौर और चित्तौड़ को साम्राज्य में विलीन करने पर असंख्य कठिनाइयाँ आईं और अलाउद्दीन ने दक्कन में अपनी मूर्खता दोहराने की गलती नहीं की। उसने दक्कन के राजाओं को हराया, उन पर भारी कर लगाए; किन्तु इसके साथ ही उसने उनके राज्य उनके पास ही रहने दिए। इस नीति के द्वारा उसने शत्रुओं को मित्र बना लिया। देवगिरि और द्वारसमुद्र के शासकों का उसने जिस सुहृदयता से से स्वागत किया और उन्हें सम्मान और पदवियां प्रदान कीं और उनका प्रदेश उनके अधिकार में रहने दिया, वह भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति में अलाउद्दीन की पैठ सिद्ध करती है। मुहम्मद विन तुगलक द्वारा दक्षिण को साम्राज्य में विलीन किए जाने के बाद भी अजेय कठिनाइयां उत्पन्न हो गयीं।

अलाउद्दीन की नीति उसकी राजनैतिक कुशलता की श्रेष्ठता प्रकट करती है। उसने स्पष्टतः यह देखा कि जिस प्रदेश को सुसंगठित नहीं किया जा सकता उसे साम्राज्य में विलीन करना व्यर्थ है। अलाउद्दीन की दक्कन नीति के कारण दक्षिण में अनेक निष्ठावान् मित्र हो गये, जो उसके प्रति निष्ठावान और आज्ञाकारी ही नहीं रहे, बल्कि उसके अनेक सैनिक उद्यमों में उन्होंने उनकी सहायता भी की। हाँ

उत्तर में मालवा और गुजरात जैसे प्रदेशों को, जहाँ अलाउद्दीन की विजय के पहले ही मुस्लिम प्रभाव प्रवेश कर चुका था, सुल्तान साम्राज्य में विलीन करने और अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने में ही नहीं हिचका[1]।

सल्तनत की सीमाओं में विस्तार

अलाउद्दीन के सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि वह स्वतंत्र राज्यों पर आधिपत्य स्थापित कैसे करे। सल्ततन–काल की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि किसी नवीन वंश के उदय के साथ ही विजय कार्य एक बार फिर दोहराना होता था। अलाउद्दीन के राज्यारोहण के समय अधिकांश उत्तर भारत और पूरा दक्षिण भारत मुस्लिम आधिपत्य की परिधि के बाहर था। ऐसी स्थिति में समग्र हिन्दुस्तान की विजय सुल्तान की सबसे बड़ी समस्या और सर्वोच्च महत्वाकांक्षा थी। मुल्तान और सिंध पर जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का पुत्र अर्कली खाँ स्वतंत्र रूप से राज्य कर रहा था। गुजरात पर बघेल राजपूतों का राज्य था। राजपूताना के विभिन्न राज्य आपस में एक दूसरे से जूझ रहे थे, और दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र थे। वास्तव में राजपूताना को आधिपत्य में लाना एक कसौटी थी जिसके द्वारा दिल्ली के प्रत्येक शासक का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कोई भी मुस्लिम शासक राजपूत राज्यों में किसी को भी पूर्णतः पराजित करने और अधीन करने में सफल नहीं हुआ। चित्तौड़ और रणथम्भौर जैसे राज्यों का अस्तित्व सल्तनत की शक्ति को खुली चुनौती था[2]। मध्य भारत में

मालवा, धार, उज्जैन और बुन्देलखण्ड का विस्तृत प्रदेश अभी पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। आधुनिक बिहार, बंगाल, उड़ीसा का सारा प्रदेश हिन्दू राजाओं या स्वतंत्र मुसलमानों के हाथ में था। दोआब, अवध, वाराणसी और गोरखपुर के प्रदेश पर भी दिल्ली का प्रभुत्व नहीं था। विंध्याचल पर्वतों के दक्षिण में भी स्वतंत्र राज्य थे। अलाउद्दीन ने देवगिरि पर सोच–समझ आक्रमण किया किन्तु जैसे ही वह उत्तर लौटा, यादव पुनः अपनी शक्ति प्राप्त करने में सफल हो गये। यह वह समय था जबकि यादव, काकतीय, होयसल एवं पांड्य के शक्तिशाली राज्यों ने मुस्लिम आक्रमणकारी का नाम तक नहीं सुना था। अपने अनवरत युद्धों से अलाउद्दीन ने अपनी सल्तनत का प्रभावशाली विस्तार किया। उत्तर भारत में आधुनिक पंजाब, सिंध और उत्तर प्रदेश केन्द्रीय शासन के सीधे नियंत्रण में थे।

यद्यपि राजपूताना की विभिन्न रियासतों को कभी भी पूर्णतः विलय नहीं किया जा सका तथापि उन्हें सरलतापूर्वक कर देने वाला राज्य माना जा सकता है। अधिकांश मध्य भारत, जैसे चंदेरी, एलिचपुर, धार, उज्जैन और मांडू जैसे महत्वपूर्ण स्थान थे, केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त प्रांतपतियों के सीधे नियंत्रण में थे। गुजरात सल्तनत का एक प्रांत था। यादव, होयसल व काकतीय राज्य करद राज्य थे। उनपर मुस्लिम प्रांतपतियों का अधिकार नहीं था। केवल देवगिरि को मलिक काफूर ने कुछ समय के लिए अपना मुख्यालय बनाया। द्वारसमुद्र के आगे मलिक काफूर ने आक्रमण किए, किन्तु पांड्य राजाओं ने अलाउद्दीन का कभी आधिपत्य स्वीकार नहीं किया[3]।

यादव–प्रदेश को पुनः जीतने के बाद मलिक कफूर ने तेलंगाना तथा होयसल राज्यों के आस–पास के अन्य नगरों को रौंद डाला और दक्षिण के लोगों में इतना आतंक उत्पन्न कर दिया कि दिल्ली सल्तनत के प्रतिरोध का किसी को साहस नहीं हुआ। इस प्रकार समस्त दक्षिण भारत काफूर के चरणों में लोटने लगा और चोल–केर–पाण्ड्य, होयसल, काकतीय तथा यादव, सभी प्राचीन राजाओं को परास्त हो कर दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। दिल्ली साम्राज्य का विस्तार उत्तर में मुल्तान, लाहौर और दिल्ली से दक्षिण में द्वारसमुद्र और मदुरा तक तथा दक्षिण में लखनौति और सुनारगाँव से पश्चिम में चट्टा और गुजरात तक हो गया तथा वर्तमान मध्य प्रदेश भी इस विशाल साम्राज्य का एक भाग बन गया[4]। 1312 ई0 के समाप्ति तक अलाउद्दीन का प्रताप–सूर्य मध्याकाश में पहुँच गया। उसके साम्राज्य की सीमा भारत के चारों छोरों का स्पर्श करने लगी। परन्तु विजयों तथा सम्राज्य अभी तक केवल असंख्य जातियों का एक ऐसा जमघट मात्र था जिसमें अभी एकता की भावना का सर्वथा अभाव था और यदि इसको इसी स्थिति में रहने दिया गया तो उसके आँखें मूदते ही या फिर उसके कठोर नियंत्रण में थोड़ी शिथिलता आते ही इसके छिन्न–भिन्न हो जाने की पूर्ण सम्भावना थी[5]।

दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा में वृद्धि

जलालुद्दीन की हत्या कर अलाउद्दीन ने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार किया था। ऐसी स्थिति में उसकी प्रथम समस्या थी हड़पे हुए राजत्व को जनता की दृष्टि में उचित सिद्ध करना, जिससे वह उस

वास्तविक राजत्व के समकक्ष हो जाय जिसके लिए जनता के हृदय में प्रेम, लगाव व भक्ति थी। यह सोचने—विचारने के बाद ही अलाउद्दीन के समय में राजत्व के सिद्धान्त का ढंचा पुनः निर्मित किया गया। वह जलालुद्दीन और कैकुबाद के समान मानवीय प्रवृत्तियों पर आधारित राजत्व का समर्थक नहीं था। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उसे अपने कार्यों के लिए धार्मिक स्वीकृति प्राप्त करने की आकांक्षा नही थी। वह किसी दैवी शक्ति पर आधारित राजत्व नहीं था वरन् ऐसे राजत्व में विश्वास करता था जो स्वयं अपने अस्तित्व द्वारा अपना औचित्य सिद्ध कर सके। उस समय के बुद्धिजीवी हजरत अमीर खुसरों ने अलाउद्दीन के लिए राजत्व के सिद्धान्त का प्रतिवादन किया। इसमें अलाउद्दीन के राजत्व को न्यायसंगत बनाने और ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया[6]।

अमीर खुसरों ने शासक की उपलब्धि उसकी विजयों को मानते हुए लिखा है कि, ''सूर्य पूर्व से पश्चिम तक धरती को अपनी तलवार की किरणों से आलोकित करता है। उसी प्रकार शासक को भी विजय करना चाहिए और उन विजयों को सुरक्षित रखना चाहिए।'' अलाउद्दीन ने अपने राज्यारोहण के बाद निरंतर विजयों को प्राप्त किया था। उन विजयों से प्रभावित खुसरो की दृष्टि में वह एक महान विजेता था, परन्तु विजेता होने से भी अधिक उसकी महत्ता एक कुशल एवं कर्मठ प्रशासक के रूप में थी। इसी महान गुण ने अलाउद्दीन के राजत्व को पवित्रता देनी चाही है। उसने कहा, ''उसके युग को विजेता (अलाउद्दीन) 'शासक' के गुणों में सर्वोत्कृष्ट है, अतः न तो कलम और न ही जीभ उसकी शक्ति का वर्णन कर सकती है।'' इस प्रकार अमीर खुसरो ने

ईश्वरीय गुणों से समानता देकर अलाउद्दीन के पद को पवित्र तथा दिव्य बना दिया। अलाउद्दीन को ईश्वर की छाया माना गया। किंतु यह 'शरीयत' में दिये गये सिद्धान्त पर आधारित नहीं था, और इसमें इस्लामी सिद्धान्तों का सहारा भी नहीं लिया गया। यह कहना उचित होगा कि अलाउद्दीन एक अनुभवी राजनीतिज्ञ था और अपनी समस्याओं को बुद्धिमानी से सुलझाता था।

वह राजनीति में धन के महत्व को समझाता था। उसे ज्ञात था कि धन एक ऐसी शक्ति थी जिसका कोई मुकाबला नही है। उसके पास जो अपार धन था उसका प्रयोग उसने जनता के हृदय को जीतने में किया। धन का उदारतापूर्वक वितरण कर उसने राजत्व को सुरक्षित व संगठित कर लिया। यह कहा गया है कि अपने धन व सोने से उसने लोगों के हृदय को ऐसा मोह लिया कि सब उसकी ओर झुक गये तथा जलालुद्दीन के बध से उनकी अलाउद्दीन के प्रति जो शत्रुता थी वह समाप्त हो गयी। अमीरों व जनसाधारण के समस्त वर्गों तथा जनसाधारण के हृदयों में उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। अलाउद्दीन यह समझता था कि उनका राजत्व जनता के स्नेह और भक्ति के बना संभव नहीं है। उसने अपने राजत्व को जनता की दृष्टि में पवित्र और न्यायसंगत बनाना था। उसने जनता द्वारा राजत्व की वैधानिकता को मान्यता दिलाना भी आवश्यक था। बिना उस कार्य के उसका अस्तित्व व स्थिरता संभव नहीं थी। यही कारण है कि अपने पद के स्थायित्व के लिए अलाउद्दीन ने जनमत का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक समझा। यद्यपि मध्यकाल में जनसाधारण में प्रायः

राजनीतिक जागरूकता अधिक नहीं थी तथापि सुल्तानों ने जन–समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। धार्मिक प्रभाव के फलस्वरूप सुल्तानों ने जनहित व जनकल्याण को महत्व दिया था और यह निरंकुशता पर एक प्रभावशाली अंकुश था। अलाउद्दन ने अपने राजत्व को धर्म के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त कराने का प्रयत्न किया और उसे अधिकाधिक धर्म निर्पेक्ष स्वरूप प्रदान किया। इतना होने के बावजूद जन–कल्याण को सुल्तान ने प्रमुख कर्तव्य माना है। धन के वितरण व जनहित के कार्यो से उसने अपने पद को स्थायित्व तथा शक्ति प्रदान की और वह उसकी वैद्यानिकता स्थापित करने में सफल रहा[7]। जनता का समर्थन प्राप्त करने के बाद ही उसने अपनी समस्याओं की ओर ध्यान दिया। उसने जलाली परिवार के उन सभी सदस्यों को समाप्त कर दिया जो उसके प्रतिद्वन्दी बन सकते थे। आंतरिक सुरक्षा की स्थापना के बाद उसने मंगोलों को समाप्त किया और उसकी शक्ति सर्वोच्च हो गयी। उसके बाद उसने एक के बाद दूसरी विजयें हासिल की।

अलाउद्दीन की उत्तर पश्चिम सीमान्त नीति

उत्तर–पश्चिम से होने वाले मंगोल आक्रमणों से अलाउद्दीन का शासनकाल काफी पीड़ित रहा और उसकी महत्वाकांक्षी सैनिक कार्यवाहियों में प्रायः बाधा पड़ती रही। मंगोलों ने पंजाब, मुल्तान और सिन्ध को ही नहीं बल्कि दिल्ली तथा गंगा–जमुना के उपजाऊ प्रदेशों तक के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। सल्तनत की सीमाओं पर निरंतर होने वाले मंगोल के आक्रमणों के फलस्वरूप ही बलबन भी सुदूर भागों

की विजयों की नीति का अनुसरण नहीं कर पाया था, किन्तु अलाउद्दीन बलबन से कहीं अधिक योग्य और साहसी सुल्तान था जिसने एक ओर मंगोल आक्रान्ताओं से निरन्तर लोहा लिया और दूसरी ओर पड़ोसी हिन्दू नरेशों को जीतने के साथ ही दक्षिण तथा सुदूर दक्षिण में भी अपनी युद्ध नीति जारी रखी। मंगोल आक्रमण सुलतान के शासन के प्रारम्भ से ही आरम्भ हो गये और 1308 ई0 तक अलाउद्दीन के लिए भारी परेशानी का कारण रहे। अलाउद्दीन ने उनके अनवरत आक्रमणों को रोकने के लिए सीमान्त छावनियों में शक्तिशाली सैनिक दल नियुक्त कर दिये तथापि मंगोल बार–बार आते रहे हालांकि हर बार उनको अत्यधिक क्षति उठाकर लौट जाना पड़ा[8]।

अलाउद्दीन खिलजी की निरंकुशता की पराकाष्ठा

अलाउद्दीन सुल्तान की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का महान पोषक था। राज्य का सर्वेसर्वा सुल्तान था। उसकी इच्छा राज्य की कानून थी। वह अपने अधिकारियों पर किसी तरह का नियंत्रण मानने को तैयार नहीं था। जिस किसी ने भी उसका विरोध किया अथवा उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं किया, सुल्तान के द्वारा उसे कठोर दण्ड दिया गया। उसने अपने शासन सुधारों को सैनिक निरंकुशता का आधार प्रदान किया। सुल्तान इतना निरंकुश था कि उसके समान आधुनिक एवं मध्य युग में कोई अन्य नहीं था। डॉ0 ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि मुस्लिम निरंकुशता उसके शासनकाल में अन्तिम सीमा तक पहुँच गयी थी।

गद्दी पर आरूढ़ होने के पश्चात् अलाउद्दीन ने सर्वप्रथम जलालुद्दीन के पुत्रों और अपने अन्य शक्तिशाली विरोधियों का नाश करने का निश्चय किया। उसने उलुग खाँ और जफर खाँ को एक विशाल एवं शक्तिशाली सेना का नेतृत्व देकर मुल्तान भेजा। इस सेना को आशातीत सफलता मिली और दिवंगत सुल्तान के दोनो पुत्र, रूकनुद्दीन इब्राहिम तथा अरकली खाँ को उसके दामाद उलुग अहमद चप, नायब अमीर हाजिब को अन्धा कर दिया गया। उसकी स्त्रियों और बाल बच्चों को उनसे अलग कर दिया गया। नसरत खाँ ने उनकी धन–सम्पत्ति, दास–दासियों तथा अन्य वस्तुओं को छीन लिया। जलालुद्दीन के पुत्रों को झांसी के दुर्ग में बन्दी बनाकर रखा गया और अरकली खाँ के सभी पुत्रों की हत्या कर दी गयी। राजमाता मलिक–ए–जहाँ तथा अहमद चप को दिल्ली पहुँचने पर कारावास में डाल दिया गया। इस प्रकार सुल्तान ने बड़ी कठोरता के साथ जलालुद्दीन के पुत्रों, निकट सम्बन्धियों और अहमद चप जैसे शक्तिशाली विरोधियों का नाश किया। साम्राज्य में ऐसे अमीरों और सरदारों की कमी नहीं थी जो स्वर्गीय सुल्तान के परमभक्त सहचर थे और अलाउद्दीन द्वारा सिंहासनारोहण को अनुचित तथा अवैद्य समझते थे। सुल्तान ने इन विरोधी जलाली अमीरों का कड़ाई के साथ दमन किया। उसने उन जलील अमीरों को भी नहीं छोड़ा जो अपने आश्रयदाता (जलालुद्दीन) से विश्वासघात करके अब उसके अनुयायी बन गये थे[9]।

राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी दूरदर्शी शासक था। उसने राजपूतों पर विजय प्राप्त कर उसे स्थायी बनाने के लिए राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध भी बनाये। जिससे दोनो में कटुता की भावना को कम किया जा सके। इसमें गुजरात के राजा कर्ण बघेला की पत्नी कमला देवी तथा उसकी पुत्री देवलरानी और देवगिरि के राजा रामचन्द्रदेव की पुत्री सत्यपाली से किये गये विवाह प्रमुख हैं।

गुजरात के राजा कर्ण बघेला की पत्नी कमला देवी से विवाह

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने जिन राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध बनाये उसमें गुजरात के राजा कर्ण बघेला की पत्नी कमला देवी का स्वयं से विवाह सबसे महत्वपूर्ण है। गुजरात के राजा कर्ण बघेला को अभी गद्दी पर बैठे कुछ ही दिन बीते थे कि उसके राज्य पर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की सेना उलुग खाँ के नेतृत्व में अचानक आक्रमण कर दिया। हड़बड़ी में राजा कर्ण अपनी जान बचाकर देवगिरि की ओर भागा। उसकी स्त्रियां और कोष तथा उसकी मुख्य रानी कमला देवी शत्रु के हाथ में पड़ गई[10]। और उसे सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के पास भेज दिया गया। सुल्तान ने कमला देवी के साथ सम्मान जनक व्यवहार किया तथा उसे राजा कर्ण के पास वापस भेजने का प्रस्ताव रखा किन्तु कमला देवी ने राजा कर्ण के पास जाने की हामी नहीं भरी और सुल्तान ने उसकी सहमति से विवाह कर लिया।

देवगिरि के राजा रामचन्द्र देव की पुत्री सत्यपाली से विवाह

अलाउद्दीन खिलजी की सेनाओं द्वारा देवगिरि पर आक्रमण करने से रामचन्द्र देव पराजित हुआ और उसने समझौते के अनुसार एलिचपुर का वार्षिक कर अलाउद्दीन के पास कड़ा भेजने का वायदा किया तथा उसने अपनी पुत्री भी अलाउद्दीन खिलजी को विवाह में दी[11]। यद्यपि समकालीन इतिहासकार इस तथ्य का उल्लेख नहीं करते, इसामी, वस्साफ, मुहम्मद बिहामद खाँ और हाजी उद्वीर इसका संकेत करते हैं[12]। इसामी तो राजकुमारी का नाम भी देता है– जहातिया पाली या सत्यपाली[13]। एक स्थान पर वह कहता है कि वह सिहाबुद्दीन उमर खिलजी जिसे खुसरो ने अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बिठाया था की माँ थी। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि अलाउद्दीन खिलजी ने सत्यपाली का विवाह अपने पुत्र खिज्र खाँ से करा दिया। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अलाउद्दीन खिजली ने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध बना कर अपने साम्राज्य को मजबूती प्रदान करने में सफल शासक सिद्ध हुआ।

गुजरात के राजा कर्ण की पुत्री का खिज्र खाँ से विवाह

गुजरात के राजा कर्ण बघेला की पुत्री देवलरानी का अपने पुत्र खिज्र खाँ से विवाह कर राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध को अलाउद्दीन खिलजी ने और मजबूत बना दिया। जबकि राजा कर्ण अपनी पुत्री की शादी खिज्र खाँ से नही करना चाहता था। मलिक काफूर ने मालवा पार करने के पश्चात् राजा कर्ण को अपनी पुत्री सौंपने अथवा शाही सेनाओं

से युद्ध के लिए तैयार रहने का सन्देश भेजा था किन्तु राजा कर्ण ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और स्वयं युद्ध की तैयारी में लग गया। अपनी पुत्री देवलरानी को भिल्लम के अधीन कुछ रक्षकों के साथ देवगिरि की ओर रवाना कर दिया। भिल्लम देवगिरि के शासक राजा रामचन्द्र देव के पुत्र सिंघन का छोटा भाई था। सिंघन देव देवलरानी से विवाह का इच्छुक था किन्तु राजा कर्ण अपने से हीन एक मराठा के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने को अनिच्छुक था और इसलिए इस विवाह प्रस्ताव को टालता आ रहा था।

परन्तु जब मुस्लिम सेना के आक्रमण से राजा कर्ण संकट में पड़ गया तो उसने सिंघनदेव के विवाह प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सिंघन ने अपने छोटे भाई भिल्लम को कर्ण के पास भेज दिया ताकि वह भावी बधू देवलरानी को सुरक्षित देवगिरि ले आये। पर विधि विधान कुछ और ही था। संयोग से मार्ग में देवलरानी अलप खाँ के सैनिकों के हाथ पड़ गयी जिसने उसे सुल्तान के पास भेज दिया, जहाँ कुछ दिनों के पश्चात् उसका विवाह अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खाँ से कर दिया गया[14]।

राजपूतों से सहयोग की प्राप्ति

अलाउद्दीन खिलजी को उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के राज्यों पर जो सफलता प्राप्त हुई उसमें बहुत से राजपूतों का योगदान भी है जिन्होंने अलाउद्दीन खिलजी को किसी न किसी रूप में सहयोग दिया था। चित्तौड़ आक्रमण के समय विजय प्राप्त होने पर सुल्तान

अलाउद्दीन खिलजी ने यह दुर्ग जालौर के सोगरा सरदार कान्हणदेव चौहान के भाई मालदेव को सौंपा जिसने जालौर के घेरे के समय एक घातक दुर्घटना से अलाउद्दीन की रक्षा की थी। मालदेव जीवन पर्यन्त सुल्तान का करद राजा रहा और उसे नियमित भेट आदि भेजता रहा। रणथम्भौर के किले की घेरा बन्दी में शुरुआत में अलाउद्दीन को सफलता न मिली तो उसने छल–कपट तथा जालसाजी का सहारा लेने का निश्चय किया। और उसने हम्मीर के सेनापति रतिपाल को रणथम्भौर दुर्ग देने का अश्वासन देकर अपने पक्ष में फोड़ लिया। फरिश्ता भी इस कथन की पुष्टि करता है। कुछ अन्य लेखकों के अनुसार सुल्तान, हम्मीर के एक अन्य सेना नायक रणमल को भी अपने पक्ष में करने में सफल रहा। जालौर आक्रमण के समय भी एक राजद्रोही भावले द्वारा अलाउद्दीन खिलजी को सहायता प्राप्त हुई थी। यहाँ के ही एक दहिया राजपूत सरदार बीका ने विश्वासघात करके अलाउद्दीन खिजली का सहयोग किया[15]। चित्तौड़ के शासक रतन सिंह के सरदार देवपाल से भी अलाउद्दीन खिलजी को सहयोग प्राप्त होता रहा। देवगिरि का शासक राजपूत रामचन्द्र देव अपने जीवन के अन्तिम समय तक अलाउद्दीन खिलजी को सहयोग पहुंचाता रहा। अन्त में मैं यह दावे के साथ कह सकती हूँ कि अलाउद्दीन खिलजी की सफलता में राजपूतों के सहयोग की भी महती भूमिका थी।

राजपूतों का पराभव अस्थायी

राजपूताना में अलाउद्दीन खिलजी की विजय स्वल्पकालीन रही। देशप्रेम और सम्मान के लिए मर मिटने वाले राजपूतों ने कभी भी अलाउद्दीन के प्रान्तपतियों के सम्मुख समर्पण नहीं किया। यदि उनकी पूर्ण पराजय हो जाती तो वे अच्छी तरह जानते थे कि किस प्रकार अपमानकारी आक्रमण से स्वयं को और अपने परिवारों को मुक्त करना चाहिए और जैसे ही आक्रमण का ज्वर उतर जाता वे अपने प्रदेशों पर पुनः अधिकार जमा लेते। परिणाम यह हुआ कि राजपूताना पर अलाउद्दीन का अधिकार संदिग्ध रहा। रणथम्भौर पर अधिकार होने के लगभग छः माह पश्चात् ही उलुग खाँ द्वारा रणथम्भौर छोड़कर जाने के पश्चात् रणथम्भौर पर सल्तनत का अधिकार रहा यह निश्चित नही है। खिज्रखाँ को अलाउद्दीन के जीवनकाल में चित्तौड़ खाली करना पड़ा। विजय के शीघ्र बाद ही जालौर भी स्वतंत्र हो गया। स्पष्टतः राजपूताना ने पूर्ण समर्पण नहीं किया था और जन्मजात योद्धाओं की उस भूमि की एक न एक रियासत दिल्ली सल्तनत की शक्ति का विरोध करती ही रही[16]।

देवगिरि में विद्रोह की शुरूआत

प्रथम अभियान में अलाउद्दीन खिलजी को देवगिरि में विशाल सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। किन्तु वहां से प्राप्त विशाल सम्पत्ति ने उसे एक दशक से अधिक समय तक उत्तर में व्यस्त रखा। फिर भी वह दक्षिण के धन के सम्बन्ध में भूला न था और जैसे ही वह उत्तर की सस्याओं

से मुक्त हुआ, उसने पुनः दक्षिण की ओर मुँह फेरा और 1296 में देवगिरि के शासक रामचन्द्र ने अलाउद्दीन के सम्मुख समर्पण किया तथा वार्षिक कर देने का वादा भी किया था, किन्तु कुछ समय बाद वह दिल्ली को कर भेजना बन्द कर दिया। इस प्रकार दक्षिण का प्रथम विद्रोह करने वाला राज्य बन गया। किन्तु उसकी कार्यशैली से नाराज होकर अलाउद्दीन खिलजी ने 1308 में पुनः उस पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी जिसका नेतृत्व मलिक कफूर ने किया और उसे इस अभियान में सफलता भी प्राप्त हुई और रामचन्द्र ने दिल्ली सुल्तान के प्रति निष्ठावान बने रहने का बचन दिया और वह अपने जीवन पर्यन्त अलाउद्दीन खिलजी को कर भेजता रहा[18]।

रामचन्द्र के ऊपर अलाउद्दीन की सफलता ने उसे दक्षिण में एक मित्र प्रदान कर दिया था। बाद के दक्षिण अभियानों में रामचन्द्र ने मलिक काफूर को बड़ी सहायता भी पहुँचायी थी। किन्तु 1312 ई0 के आसपास सुल्तान अलाउद्दीन के सबसे पुराने और अत्यन्त निष्ठावान मित्र रामचन्द्र का देहान्त हो गया और उसका पुत्र सिंघनदेव सिंहासनारूढ़ हुआ। जब से तुर्कों ने दक्षिण में प्रवेश किया था तभी से सिंघनदेव उनका घोर शत्रु रहा और उसकी मंगेतर देवलरानी को उससे छीन लेना उसके मन में विद्रोह की चिनगारी को और बढ़ाना ही था[19]। किन्तु पिता की मृत्यु के बाद वह स्वयं को स्वतंत्र महसूस करने लगा और अलाउद्दीन खिलजी से सारे सम्बन्ध तोड़ लिये और स्वतंत्रतापूर्वक शासन करने लगा। किन्तु, दिल्ली सल्तनत के महत्वाकांक्षी शासक अलाउद्दीन खिलजी के लिए यह असहनीय था और उसने सिंघनदेव

के विद्रोह को शान्त करने के लिए सेना भेजी तथा उसके विद्रोह को दबाकर दिल्ली सल्तनत में पुनः मिला लिया। किन्तु दिल्ली सल्तनत के प्रति देवमित्र द्वारा कई बार बिद्रोह किये जाने से अलाउद्दीन की असफलता स्वयं सिद्ध हो जाती है। भले ही उसे सभी अभियानों में सफलता प्राप्त हुई।

बारंगल में विद्रोह की शुरूआत

उत्तरी भारत के शासन–तंत्र को ठीक करने के बाद और पूर्ण सत्ता स्थापित करके अलाउद्दीन ने दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए बदायूँ, अवध, कड़ा, चंदेरी इत्यादि स्थानों से एक विशाल सेना को एकत्रित किया। उसने अपने बड़े बेटे उलुग खाँ को चोल मंडल तट का प्रदेश विजित करने के लिए भेजा। उन दिनों बारंगल में काकतीय वंश के हिन्दू राजा प्रताप रूद्रदेव का शासन था। यद्यपि उसने अलाउद्दीन के समय में अपनी पराजय मानकर अधीनता भी स्वीकार की थी तथापि बाद में दिल्ली सल्तनत की कमजोरियों का लाभ उठाकर पुनः अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और खराज देना भी ठुकरा दिया। उलुग खाँ विशाल सेना का नेतृत्व करते हुए दिल्ली से अग्रसर हुआ। वह दो महीने की यात्रा के बाद देवगिरि पहुँचा। उसे मराठा राज्य में स्थित शाही सेना भी सहयोग के लिए प्राप्त हुई। मार्ग में भी उसका कोई विरोध नहीं हुआ। बारंगल पहुँचकर उसने दुर्ग की घेरेबन्दी आरंभ की जो दक्षिण में अपनी विशालता और दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध था। उसमें सत्तर बुर्ज थे और प्रत्येक की रक्षा एक नायक कर रहा था।

बारंगल का घेरा आठ महीने तक चलता रहा। किन्तु फिर भी सुल्तान की सेना सफलता प्राप्त न कर सकी। युद्ध–सामग्री एकत्रित करने के लिए उलुगखाँ ने अपने कुछ अमीरों को आदेश दिया कि वह तेलंगाना प्रदेश को विध्वंस करके सेना के लिए आवश्यक सामग्री और खाद्यान्न प्राप्त करें। इस प्रकार से घेरा डालने वालों ने प्रदेश को नष्ट करने और दुर्ग की सेना की आवश्यकता पूरी करने वाले सभी साधनों को रोकने की दोहरी नीति अपनायी। चूकि रूद्रदेव संकटग्रस्त था इसलिए उसने संधि वार्ता आरम्भ की और इस शर्त पर खराज देने का प्रस्ताव रखा कि राजकुमार घेरा उठाकर वापस चला जाए [20]। तेलंगाना की प्रथम असफलता से सुल्तान निरूत्साहित नहीं हुआ अपितु उसका संकल्प और भी दृढ़ हो गया।

इसामी के अनुसार उलुग खाँ नवीन सहायक सेना के पहुँचने तक चार महीने देवगिरि में ही ठहरा जिससे यह स्पष्ट होता है कि उत्तरी भारत के राज्यों की भांति दक्षिण के शासक भी कितने विवेकहीन थे। वे उनको चार महीने इस प्रकार देवगिरि में पड़े रहने पर भी चारों ओर से घेरकर नष्ट नहीं कर सके। इसका प्रधान कारण यह है कि अदूरदर्शिता और शिथिलता से दक्षिण के शासक ग्रसित हो चुके थे। जैसे ही दिल्ली से सहायक सेना देवगिरि पहुँची, उलुगखाँ तेलंगाना की ओर बढ़ा। इस बार वह अधिक सावधान था। उसने अपनी संचार–व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रभावशाली उपाय किए। मार्ग में बीदर तथा अन्य बहुत से किले छीनकर अपनी सेना छोड़ता हुआ वह आगे बढ़ा। बोधन के किले का घेरा डालकर वह अंत में बारंगल पहुँचा। वहाँ का शासक राय

प्रताप रूद्रदेव निश्चिंत बैठा रहा। उसने अपनी रक्षा के लिए कोई योजना नहीं बनायी और न ही दक्षिण के अन्य किसी राजा ने यह सोचा कि एकत्र होकर सामना किया जाए। घेराबन्दी पाँच महीने तक जारी रही। अंत में रोग और त्रस्त दुर्ग की सेना ने आत्मसमर्पण का निश्चय किया। मुस्लिम सेना ने बड़ी निर्दयता से जनता को लूटा और बड़े–बड़े भवनों और मन्दिरों को नष्ट किया। राय अपने संबंधियों और आश्रितों सहित दिल्ली भेजा गया। किंतु इससे पूर्व कि वह सुल्तान के समक्ष प्रस्तुत किया जाता वह परलोक सिधार गया। यह भी संभव है कि मान–हानि से बचने के लिए उसने आत्महत्या कर ली हो[21]।

इस प्रकार बंगाल दिल्ली सल्तनत का एक अभिन्न अंग बन गया। इतना होते हुए भी उस प्रदेश पर दिल्ली सल्तनत का अधिकार अस्थिर तथा डावौडाल बना रहा, जो अलाउद्दीन खिलजी की असफलता का द्योतक है।

सन्दभ सूची

1. किशोरी, शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 278
2. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1987, पृ0 197
3. वही, पृ0 198
4. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, जयपुर, 1975 पृ0 206
5. ईश्वरी प्रसाद, पृ0 231
6. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1987, पृ0 203–204
7. वही, पृ0 205
8. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, जयपुर, 1975 पृ0 190
9. विपिन बिहारी सिन्हा, मध्यकालीन भारत, नई दिल्ली, 1999, पृ0 109
10. परम्परा के अनुसार राजा कर्ण के मंत्री माधव की पत्नी के श्राप के कारण गुजरात पर आक्रमण हुआ। राजा कर्ण माधव की सुन्दर पत्नी रूप सुन्दरी से प्रेम करने लगा और राजधानी से माधव की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उसने उसे बलात् अधिकृत कर लिया। रूप सुन्दरी ने राजा कर्ण को श्राप दिया कि जिस प्रकार उसने उसे उसके पति से अलग कर दिया है उसी प्रकार उसकी रानी भी उससे अलग कर दी जायेगी।

    फोर्ब्स, रस माला, पृ0 278

दूसरी परम्परा के अनुसार माधव ने अलाउद्दीन से सहायता की प्रार्थना की और अलाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। नैनसी – ख्यात, प्र0 पृ0 213

11. किशेरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 46
12. बस्साफ, पृ0 312
13. फुतूह, पृ0 230, 231
14. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, जयपुर, 1975 पृ0 200
15. कालूराम वर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 84, 85
16. किशेरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 118
17. वही, पृ0 222, 223
18. बरनी, पृ0 326
19. फरिश्ता, पृ0 274
20. हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, दिल्ली, 1978, पृ0 259
21. वही, पृ0 261

****

सप्तम् अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के कारण

सप्तम् अध्याय

अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के कारण

राजपूत जाति के लोग वंशानुगत अत्यन्त वीर और पराक्रमी योद्धा होते थे। अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए वे युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त करना बड़े सौभाग्य की बात समझते थे। परन्तु इन गुणों के बावजूद वे मुसलमानों से देश की रक्षा करने में असफल रहे। और उन्होंने देश की स्वाधीनता को विदेशियों के हाथों सौंप दिया। राजपूतों का पतन किसी एक कारण विशेष का परिणाम नहीं था अपितु विभिन्न कारणों ने इस दिशा में योगदान दिया। उनकी पराजय का मूलभूत कारण यह था कि उस समय देश में राजनीतिक एकता की कमी थी। राजपूतों के छोटे–छोटे कई राज्य थे। ये परस्पर संघर्ष किया करते थे। प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक अपने पड़ोसियों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करने की चेष्टा किया करता था।

प्रत्येक राजपूत शासक अपने साम्राज्य को ही महत्व देता था। शासन की शक्ति शासक या उसके प्रतिनिधि के हाथों में संचित होती थी। जिससे छोट–छोटे राज्य केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता का लाभ उठाकर स्वतन्त्र होने की ताक में रहते थे। आम जनता राजनीतिक विषयों से उदासीन रहती थी। देश की रक्षा करना वह अपना कर्तव्य नही समझती थी। ऐसी स्थिति में शासक का पतन अवश्यम्भावी था। राजपूतों की परजय के लिए उनकी सेना तथा सैनिक संगठन भी उत्तरदायी थे।

राजपूत सेना में पैदल तथा हाथियों की संख्या अधिक थी। तुर्क मुसलमान सैनिक लड़ाई की नयी–नयी पद्धतियों से परिचित थे तथा उनके घोड़े एवं घुड़सवार दोनो ही राजपूतों से कहीं अधिक अच्छे होते थे। राजपूत सेना के हाथी कभी–कभी बिगड़कर अपनी ही सेना में भगदड़ पैदा कर देते थे। राजपूत सिपाही तलवार, भाला, बरछी आदि के द्वारा युद्ध करते थे, जबकि मुसलमान सैनिक तीर चलाने में अत्यन्त कुशल थे।

मुसलमानों की सेना में राजपूतों की सेना से अच्छे सेनापति रहते थे। राजपूत लोग धर्मयुद्ध करते थे, भागते हुए शत्रु का पीछा न करना, शरण में आये हुए को अभयदान करना, घायल शत्रु पर वार न करना आदि उनका कर्तव्य था। इससे शत्रुओं को और अधिक शक्ति तथा उत्साह के साथ दुबारा आक्रमण करने का मौका मिल जाता था। मुस्लिम सेना राजपूतों की सेना की अपेक्षा अधिक संगठित और अनुशासित थी। राजपूत सैनिक सामन्तों द्वारा दिये गये सैनिक होते थे जिनमें पेशेवर सिपाहियों की संख्या अधिक होती थी। अतः उनमें एकरुपता नहीं आ पाती थी। राजपूतों का सामाजिक संगठन होने से भी उन्हें बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी। तत्कालीन समाज में जाति पांति, छुआ छूत, एवं ऊँच–नींच की भावनाएं अत्यन्त प्रबल थी। वर्ण व्यवस्था के अनुसार शासन एवं देश की रक्षा का भार केवल क्षत्रिय जाति पर था। अतः सैनिक केवल इसी जाति से चुने जाते थे। समाज का बहुत बड़ा भाग देश की रक्षा की ओर से उदासीन था। इसके परिणाम स्वरुप राष्ट्रीयता की भावना का लोप हो गया था मुसलमानों को सम्पूर्ण

भारतीयों की जगह कुछ राजवंशों से ही युद्ध करना पड़ा। ऐसी स्थिति में उनकी सफलता निश्चित थी।

इन समस्त बातों के अतिरिक्त राजपूतों की पराजय में सहायक अन्य कारण भी मौजूद थे, जैसे– मदिरापान, धूतक्रीड़ा, बहुविवाह आदि जिससे उनके नैतिक जीवन का स्तर गिर रहा था। अतः मुसलमानों के समान न तो साहस ही था औ न जोश ही। तत्कालीन हिन्दू धर्म भी राजपूतों को सैनिक दृष्टि से निर्बल बना रहा था। जहां एक ओर उन पर बौद्ध एवं जैनों के अहिंसा सिद्धान्त का प्रभाव था, वहीं कर्मवाद, भाग्यवाद अनेक अन्धविश्वास आदि ने मिलकर हिन्दुओं की सैनिक शक्ति को कुण्ठित कर दिया। वे अत्यन्त भाग्यवादी हो चुके थे जिससे आत्मविश्वास की भावना लगभग समाप्त हो गयी। आम जनता मुस्लिम शासन में त्रस्त होते हुए भी उसे अपने पूर्वसंचित कर्मों का फल मान कर कष्ट भोगने के लिए तत्पर हो गयी और उसने उनका विरोध करना अपना कर्तव्य नही समझा।

इसके विपरीत चूंकि मुसलमान कर्मवाद में विश्वास नहीं करते थे, अतः वे उत्साह पूर्वक युद्ध करते थे, उन्होंने जेहाद का नारा दिया। राजपूतों के विरुद्ध मुसलमानों की सफलता का एक प्रबल कारण यह था कि तुर्क विजेता अपने राजपूत प्रतिद्वन्दियों की तुलना में अधिक योग्य और अनुभवी थे। उनमें सैनिक संगठन तथा संचालन की योग्यता राजपूत राजाओं की अपेक्षा कहीं अधिक थी। राजपूत शासकों से युद्ध क्षेत्र में भयंकर भूलें हो जाती थी। जैसे अलाउद्दीन के पूर्ववर्ती,

पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गोरी को तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित कर देने के बाद भी उसक बध नही किया और उसे भाग जाने दिया। इस भूल का फल यह हुआ कि उसने अपनी शक्ति संगठित करने का अच्छा मौका मिल गया, जिसका फल पृथ्वीराज को तुरन्त भुगतना पड़ा।

भारत ने इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला प्रायः 300 वर्षों तक अपनी उत्तर पश्चिम सीमा तक किया। अरबों का भारत आक्रमण सिन्ध और मुल्तान तक सीमित रहा और तुर्कों द्वारा काबुल, जाबुल, अफगानिस्तान तथा पंजाब की विजय के लिए सहज सिद्ध नहीं हुई। यह एक गौरवपूर्ण बात थी कि जिस इस्लाम ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के अधिकांश भाग और उसमें निवास करने वाली विभिन्न नस्लों को जीतकर अपना अंग बना लिया उसका मुकाबला हिन्दू एक लम्बे समय तक कर सके थे। परन्तु साथ ही साथ उत्तर पश्चिम भारत की प्राचीर टूट जाने के पश्चात् जिस तरह हिन्दू राज्यों की पराजय हुई यह भी इतिहास की आश्चर्यजनक घटना है।

तुर्कों के निरन्तर आक्रमणों के कारण भारतीय इतिहास में अपने वीरत्व के लिए प्रख्यात राजपूत राजाओं का पतन हो गया। राजपूत ऐसे बीर और जुझारू योद्धा थे जो रण–क्षेत्र में सहर्ष मृत्यु का आलिंगन और वीरगति को प्राप्त करना बड़े सौभाग्य की बात समझते थे। कर्नल टॉड के शब्दों में, ''राजस्थान में ऐसा कोई छोटा राज्य नहीं है, जिसमें थर्मोपिली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहां लियोनिडास के समान मातृभूमि पर बलिदान होने वाला वीर पुरूष

उत्पन्न न हुआ हो[1]।'' कर्नल वाल्टर ने भी राजपूतों के वीरत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''राजपूतों का अपने प्राचीन शौर्य पर गर्व करना सर्वथा उचित ही है। अपने धर्म की स्वाधीनता तथा कुल मर्यादा की रक्षा करने के लिए राजपूतों ने जो वीर–कार्य किये हैं तथा अपने वीरत्व व गौरव का जैसा परिचय दिया है, वैसा विश्व के किसी अन्य देश के इतिहास में नहीं मिलता।'' युद्ध–क्षेत्र में बीरगति प्राप्त करना राजपूत अपना गौरव समझते थे। राजपूत जाति में युद्ध करते हुए मर जाना अपने जन्म ऋण को चुकाना माना जाता है और इस दृष्टि से यह कोई अनहोनी बात नहीं थी कि राजपूत शत्रु से मुंह मोड़ने में भारी कलंक समझते थे।

रण–क्षेत्र में अद्भुत साहस और रण–कौशल का परिचय देने वाले राजपूतों का मुसलमानों द्वारा पराजित हो जाना आश्चर्यजनक बात थी। राजपूत संख्या और व्यक्तिगत शौर्य में अपने प्रतिद्वन्दी तुर्कों से कम नहीं थे, फिर भी अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में तुर्कों के आक्रमणों के सम्मुख निष्फल हो गये[2]।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में विभिन्न राजपूत राजाओं को एक लम्बे समय तक तुर्कों द्वारा स्थापित दिल्ली सल्तनत से संघर्ष करना पड़ा। अलाउद्दीन खिलजी तथा भारत के उत्तर तथा दक्षिणी राज्यों के राजपूतों के सम्बन्ध हमेशा तनाव तथा शत्रुतापूर्ण रहे। कई बार राजपूत तुर्कों के बढ़ते हुए प्रभाव को नियंत्रित करने में भी सफल रहे। परन्तु वे दिल्ली सल्तनत के राजनीतिक प्रभाव में होने वाले उतार

चढ़ाव का समुचित लाभ न उठा सके। जिसका परिणाम यह निकला कि उन्हें एक–एक करके अलाउद्दीन खिलजी के आगे नतमस्तक होना पड़ा और उनकी स्वतंत्रता का अंत हो गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को रणथम्भौर, चित्तौण और जालौर को जीतने के लिए कठोर परिश्रम व संघर्ष करना पड़ा[3]। राजपूतों में शूरवीरता, पराक्रम तथा रणनिपुणता की कमी नही थी फिर भी वे अलाउद्दीन खिलजी के सामने असफल रहे। उनकी असफलता का कोई एक निश्चित कारण उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। उनमें से कुछ मुख्य कारण इस प्रकार हैं–

देशद्रोहियों का योगदान

अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की पराजय में देशद्रोहियों की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नही थी। रणथम्भौर अभियान के समय हम्मीर के सेनानायक तथा मंत्री रणमल और रतिपाल ने व्यक्तिगत उन्नति एवं स्वार्थ के खातिर अपने राजा तथा राज्य के साथ विश्वासघात करके सुल्तान का साथ दिया।

चित्तौड़ अभियान के समय भी देवपाल ने विश्वासघात किया और जालौर अभियान के समय दहिआ राजपूत सरदार बीका ने सुल्तान की सेना को दुर्ग का असुरक्षित भाग का रास्ता बताकर अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया। शायद यह हमारे राष्ट्रीय चरित्र का सबसे

दुखद पहलू था और इसके लिए हजारो राजपूत नर नारियों को मंहगी कीमत चुकानी पड़ी[4]।

तुर्कों की श्रेष्ठतम् रणनीति और पैंतरेबाजी

राजपूतों की युद्ध प्रणाली परम्परागत थी, जिसमें समय के अनुकूल परिवर्तन नहीं किये गये थे। तुर्क सैनिक उस क्षेत्र से आते थे जहां अनेक देशों और जातियों के कुशल सेनानायक नई–नई रण–शैलियों का सृजन करते थे। अस्तु उनकी कुशलता का ढंग अधिक अच्छा था और वे आधुनिक हथियारों तथा रण पद्धतियों से परिचित हो जाते थे। इसके विपरीत राजपूत राजा पुरानी पद्धति से ही युद्ध करते थे और विदेशियों को म्लेच्छ समझकर उनके सम्पर्क में आने से हिचकिचाते थे। राजपूतों को अपनी हस्ति सेना पर विश्वास बना रहता था। एक नेता पर निर्भरता, आत्मरक्षीय युद्ध, सुरक्षा की द्वितीय पक्ति का अभाव आदि कारणों ने राजपूतों की पराजय में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

राजपूत तीरंदाजी की अपेक्षा तलवार व भाले के प्रयोग में अधिक दक्ष थे, किन्तु मुसलमान तीरंदाजी में पारंगत होने के कारण भागते हुए राजपूत सैनिकों पर निशाने मारने में दक्ष थे। तुर्कों की तुलना में राजपूतों के अस्त्र–शस्त्र अकुशल और प्राचीन पद्धति द्वारा निर्मित थे। तुर्कों के पास किलों को तोड़ने वाली मशीनें थीं जिन्हें 'मंजनिक', 'अर्राद' आदि कहते थे।

रण क्षेत्र में विजयश्री प्राप्त करने के लिए के लिए हर सम्भव साधनों का प्रयोग करना चाहिए, चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक। तुर्क नैतिक पहलू पर ध्यान न देकर केवल विजय प्राप्ति की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखते थे। इसके ठीक विपरीत, राजपूत धर्म–युद्ध द्वारा ही विजय प्राप्त करना चाहते थे। वे शस्त्रु को यथासम्भव क्षतिग्रस्त न करके केवल रणक्षेत्र से भगा देने में ही अपना कार्य पूर्ण समझ लेते थे, जबकि उन्हें शस्त्रु–सेना का पीछा कर उसे नष्ट कर देना चाहिए था। इसके अतिरिक्त राजपूत प्रमुखतया रक्षात्मक युद्ध का प्रदर्शन करते थे, जबकि तुर्क आक्रामक युद्ध–नीति का परिचय देते थे। राजपूत राजाओं की अकुशल नीति और तुर्कों के युद्ध–चातुर्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 विश्वेश्वर स्वरूप भार्गव ने लिखा है कि, ''राजपूत राजाओं का युद्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण भी उनकी पराजय का कारण था। वे युद्ध को रण–कौशल और वीरता का एक 'टूर्नामेन्ट' समझते थे।

शस्त्रु पर छल–कपट या अनैतिक ढंग से विजय को वे प्रायः हेय समझते थे। यही कारण था कि दांव पेंच खेलने में वे माहिर नही थे। इसके विपरीत मुस्लिम आक्रमणकारी हर प्रकार के उचित–अनुचित साधन अपनाते थे। साधनों की पवित्रता में उनका कोई विश्वास नहीं था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि युद्ध–क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का कोई महत्व नहीं होता है[5]।

सेवाना और जालौन के आपसी सम्बन्ध राजपूत सरदारों की एक दूसरे के प्रति कठोर उदासीनता का ज्वलंत उदाहरण है। जबकि सेवाना

का पतन निश्चित था, वहां से केवल पचास मील दूर जालौर का शासक निश्चल था, परिणाम यह हुआ कि दो वर्ष पश्चात् दूसरे आघात में जालौर भी अधिकृत कर लिया गया। और अलाउद्दीन खिलजी को सफलता प्राप्त हुई[6]।

राजपूतों की हस्ति सेना की दुर्बलता

राजपूतों की पराजय का एक महत्वपूर्ण कारण उनकी हस्ति सेना की दुर्बलता भी थी। राजपूत अपनी सेना में हाथियों को अग्रिम पंक्ति में रखते थे। उद्देश्य रहता था शत्रु सेना को रौंदकर मार डालना, किन्तु अनेक युद्धों में भीषण आघात के कारण हाथी भड़ककर पीछे की ओर भागते और इस प्रकार अपनी सेना को रौंद डालते थे। इसके विपरीत तुर्क आक्रमणकारी अश्वारोही सेना का अधिक उपयोग करते थे। उनकी सेना द्रुतगति से शत्रु सेना पर आक्रमण करती थी।

राजपूत राजाओं के किले

राजपूतों की पराजय में उनके किलों का योगदान भी महत्वपूर्ण था। वे सामान्यतः पहाड़ी के शिखर पर बनायें जाते थे और इनका निर्माण इसलिए किया जाता था कि जब किले के साहसी रक्षक किले के बाहर होते थे तो वहां मौजूब स्त्रियां, बच्चे और पशुओं को उसमें सुरक्षित रखा जाता था। यद्यपि आक्रान्ताओं के लिए पहाड़ी की चट्टानों पर चढ़ना कठिन था, तथापि घेरा पड़ने पर नीचे स्थित मैदान से दुर्ग का सम्बन्ध सदैव टूट जाता था। इस प्रकार सुदूर जिलों का अनाज

और लगान शत्रु के हाथ में जा पड़ता था। घेरे के समय पहाड़ों के सब लोग दुर्ग के भीतर शरण लेने हेतु समय पर न आ पाते थे, उनमें से अधिकांश नीचे मैदान में छूट जाते थे वे संकट के कारण शत्रु से घृणा तो करते थे किन्तु दुर्ग के भीतर सुरक्षित अपने शासक के लिए कुछ न कर सकते थे[7]। राजपूतों में यह विश्वास था कि उनके दुर्ग अभेद हैं और उसमें रहकर वे लम्बे समय तक सुरक्षित रहते हुए शत्रु का सामना कर सकते हैं। दुर्ग के आसपास के क्षत्रों पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो जाने से दुर्ग में घिरे लोगों का खाद्य सामग्री मिलना भी कठिन हो जाता था और थोड़े ही महीनों की घेराबन्दी के बाद अकाल की स्थिति आ खड़ी होती थी[8]।

रणथम्भौर, चित्तौड़ और जालौर के शक्शिाली किलों ने अकाल के आगे समर्पण कर दिया क्योंकि मैदानी क्षेत्रों पर शत्रु का अधिकार हो जाने से उन्हें रसद सामग्री नही मिल पाती थी। रणथम्भौर का उदाहरण पुनः दोहराया जा सकता है। किसी देश द्रोही की सहायता से अन्नागारों में हड्डियां फेंक दी गई जिससे खाद्य–सामग्री अपवित्र हो गयी और किले ने समर्पण कर दिया। जिससे किले पर अलाउद्दीन खिलजी के सैनिकों का अधिकार हो गया[9]। दुर्ग के समीपवर्ती नगर तथा बस्तियों के लोग भी आक्रमण के समय आश्रय लेने के लिए दुर्ग में चले जाते थे इससे दुर्ग में संचित खाद्य सामग्री जल्दी ही समाप्त हो जाती थी। यदि राजपूत पहले की भाँति दुर्ग के साथ–साथ छापामार पद्धति को भी जारी रखते तो उन्हें सरलता से परस्त नहीं किया जा सकता था।

राजपूतों के पास स्थायी सेना का आभाव

राजपूत राजाओं ने सैन्य–संगठन को कुशल तथा सुदृढ़ बनाने की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके पास स्थान तथा नियमित सेना का नितान्त अभाव था। शासक वर्ग अधिकतर सामन्तों द्वारा पदाति सेना पर ही निर्भर रहता था। सामन्तों की सेना में उचित सैन्य–शिक्षा एवं अनुभव का प्रायः अभाव था। इस प्रकार के सैनिकों में अनुशासन एवं रणकौशल का भी अभाव था, जिससे वे एक सुनियोजित योजना के अनुसार नहीं लड़ पाते थे। अपनी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखने के कारण सामन्त लोग पूरी शक्ति और निष्ठा के साथ युद्ध नहीं करते थे। विभिन्न सामन्तों की सम्मिलित सेना के सैनिकों में स्वामिभक्ति विभाजित होने के कारण एक सेना नायक के नेतृत्व में लड़ना उनके मान के विरुद्ध था। युद्धकाल में भर्ती किये जाने वाले सैनिक प्रशिक्षित नही होते थे। राजपूत सैनिक एक ओर युद्ध–विद्या से अपरिचत एवं अनभिज्ञ थे तथा दूसरी ओर वे पेशेवर सैनिक होने के कारण उनके हृदय मे किसी राज्य अथवा सम्राट के प्रति भक्ति–भावना नही थी। इस सम्बन्ध में चिन्तामणि विनायक वैद्य के विचार उल्लेखनीय है कि एक स्थाई सेना के अभाव के कारण ही राजपूतों की पराजय हुई थी।[10] तुर्क–आक्रान्ताओं के पास एक अनुभवी, युद्ध कला में निपुण, संगठित तथा स्थाई सेना थी जो अपने सुल्तान के प्रति भक्ति का भाव रखती थी, परन्तु राजपूत सेनाओं में ये गुण विद्यमान नहीं थे और साथ ही उनकी सेना करद सामन्तों द्वारा भेजी होने के कारण राजा की अपेक्षा सामन्तों के प्रति भक्ति रखती थी। दूसरी ओर तुर्क–सेना में बड़ी जांच पड़ताल के बाद

भर्ती की जाती थी, अतः सुल्तान को अपने सैनिकों की ओर से धोखे का डर नही रहता था। कभी–कभी जिन हिन्दू सैनिकों को भर्ती किया जाता था वे भी ऐसे होते थे जिन्हें किसी न किसी कारणवश अपने देशवासियों से घृणा होती थी वे उनसे प्रतिशोध लेने का अवसर ढूंढ़ते रहते थे। अलाउद्दीन खिलजी अपने सैनिकों की भर्ती अपनी देखरेख में ही करता था।

राजपूत शासकों के सैनिक अभियानों अथवा शत्रु के आक्रमण के समय अपने सामन्तों के सैनिक दस्तों पर निर्भर रहना पड़ता था। सामन्तों के सैनिक में उच्च कोटि की सैनिक प्रतिभा एवं गुणों का अभाव रहता था, क्योंकि वे नियमित सैनिक नहीं होते थे और न ही उन्हें सही ढंग से प्रशिक्षण मिल पाता था। इस व्यवस्था का एक द्वोष यह भी था कि किसी शासक के लिए अपने समस्त सामन्तों के सैनिक दस्तों को तत्काल एक ही स्थान पर एकत्र करना भी सम्भव न था और दूसरा द्वोष यह कि सामन्तों के सैनिक अपने सामन्त के अलावा अन्य किसी व्यक्ति के नेतृत्व में लड़ने को तैयार न थे[11]।

मुस्लिम अश्व सेना की श्रेष्ठता

तुर्कों की अश्व सेना राजपूतों की अश्व सेना तथा हाथियों की सेना से श्रेष्ठ थी। तुर्कों की सेना में अश्व सेना का अपना विशेष महत्व था। उनके घोड़े उत्तम कोटि के थे। दूसरी ओर राजपूत अश्वारोहियों के पास अच्छी नस्ल के घोड़ों का अभाव था। राजपूत सेना में पैदल–सिपाहियों की संख्या अधिक होती थी जो गतिशीलता और

पैंतरेबाजी में तुर्कों के कुशल अश्वारोहियों का सामना नहीं कर सकते थे। तुर्कों की घुड़सवार सेना केवल अपनी गति के प्रभाव से ही राजपूत सेना को अस्त–व्यस्त कर सकती थी। तुर्कों के तेज और फुर्तीले घोड़े बड़ी तेजी से चारों ओर घूमकर शत्रु पर टूट पड़ते थे और युद्ध–क्षेत्र में मात खा जाने के पश्चात् भागने वाले राजपूतों का आसानी से पीछा कर उन्हें पुनर्सगठित होने में बाधा पहुंचाते थे। वह युग घोड़ों का युग था और अद्वितीय गतिशीलता तथा अस्त्र सुसज्जित घुड़सवार सेना उस युग की एक महान आवश्यकता थी। राजपूत अच्छे निशानेबाज थे परन्तु एक स्थान पर खड़े होकर ही वे ऐसा कौशल दिखा सकते थे। जबकि तुर्क सैनिक सरपट दौड़ते घोड़ों की पीठ पर बैठे–बैठे निशाना लगाने में दक्ष थे[12]।

गुप्तचर व्यवस्था में कमी

राजपूतों की पराजय का एक प्रमुख कारण उनकी सेना में गुप्तचर की कमी था। तुर्कों का खुफिया विभाग काफी चतुर और सक्रिय था। वे संभाव्य देशद्रोहियों को पता लगाकर उन्हें अपनी ओर मिलाने की चेष्टा करते थे तथा उन्हें अपनी सेना में स्थान देकर उन्हें ही राजपूतों के विरुद्ध काम में लाये। महमूद गजनवी के सेवकपाल और नारायणपुर के राजा ने सहायता दी थी। सोमनाथ मन्दिर के लूट के अभियान के समय उसे इस प्रकार की सहायता मिली थी। शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज से अजमेर में और चन्द्रसेन के सम्बन्धी अजयपाल से बरन में इसी तरह की सहायता मिली थी। तुर्की सेना का संगठन एवं कुशल

खुफिया विभाग विभिन्न राज्यों की सैन्य–शक्ति और आन्तरिक स्थिति का पूरा–पूरा पता लगा लेता था। मुस्लिम व्यापारी और गुप्तचर बेरोकटोक घूमते रहते थे और आवश्यक सूचनाएं अपने शासकों तक पहुंचाते रहते थे, जिससे उन्हें राजपूतों की सैनिक शक्ति एवं तैयारियों की सूचना मिल जाती थी। इस सबका फायदा उठाकर तुर्क अचानक राजपूतों के राज्य पर आक्रमण कर देते थे। फलतः राजपूतों को बिना तैयारी के कमजोर स्थिति में शक्तिशाली शत्रु–सेना से लड़ना पड़ता था, जिसमें विजय की बहुत कम आशा होती थी[13]। गुप्तचर व्यवस्था में कमी से राजपूत शासकों को अपने शत्रुओं की गतिविधियों की सही जानकारी समय पर उपलब्ध नही हो पाती थी। उन्हें शत्रु पक्ष के आगमन का तभी पता चलता था जब वह उनकी सीमा में प्रवेश कर जाता था। इससे उन्हें पर्याप्त तैयारी का समय नहीं मिल पाता और अपने दुर्गों में आवश्यकता से अधिक खाद्यान्नों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं कर पाते थे।

राजपूतों की गुप्तचर व्यवस्था के विपरीत सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की गुप्तचर व्यवस्था बहुत ही सुव्यवस्थित तथा कार्यकुशल थी। इसके गुप्तचर साधुओं फकीरों और व्यापारियों के रूप में विभिन्न राज्यों में विचरण करते रहते थे और इन राज्यों की गतिविधियों की विस्तृत जानकारी अपने सुल्तान तक पहुंचाते थे[14]। राजपूत उन्मक्त होकर लड़ता था, तुर्क युद्ध कौशल से। राजपूतों के पास कूटनीति का नाम नहीं था किन्तु वह मुस्लिमों की सफलता का राज थी।

राजपूतों में एकता का आभाव

राजपूत पराधीनता से घृणा करते थे और शूरवीर भी थे, लेकिन उनमें एकता की भावना नही थी। राजपूतों के दुर्गों ने प्रबल एकाकी प्रतिरोध किए किन्तु उनमें से कोई भी अकेला दिल्ली सल्तनत के सम्मुख नगण्य था[15]।

पराधीनता से घृणा करने वाले राजपूतों के पास शौर्य था, किन्तु एकता की भावना का आभाव था, यदि दो या तीन राजपूत राजा भी सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के विरूद्ध एक हो जाते तो उसे पराजित करने में निश्चय ही सफल होते। किन्तु अपने पर्वतीय दुर्गों में सुरक्षित, उनमें से प्रत्येक अपने ही मामलों से मतलब रखने और अपने ही दम्भ में मस्त रहने में सन्तुष्ट था और अलाउद्दीन ने आक्रमण करके एक के पश्चात् एक सबको अधिकृत कर लिया[16]।

उदाहरण के लिए यदि रणथम्भौर की घेराबन्दी के समय चित्तौण अथवा जालौर के शासको ने हम्मीर की सहायतार्थ घेरा डालने वाली खिलजी सेना पर आक्रमण किया होता तो अलाउद्दीन का वहाँ अधिक समय तक टिकना असम्भव हो जाता। रणथम्भौर से चित्तौण और जालौर अधिक दूरी पर नही थे। वे शत्रु से रसद तथा सहायता मार्गों की सरलता के साथ नाकेबन्दी कर उसे संकट में डाल सकते थे।

इसी प्रकार जब अलाउद्दीन ने सिवाना पर आक्रमण किया तो 30 – 35 मील की दूरी पर बैठा जालौर का कान्हड़दे शाही सेना को

परेशान करने के लिए जालौर से सिवाना की तरफ नहीं आया। खिलजियों के पतन के बाद भी राजपूत शासको ने दिल्ली सल्तनत की तत्कालीन निर्बलता का लाभ उठाने के स्थान पर अपने–अपने प्रभाव क्षेत्रों को बढ़ाने के लिए अपने ही लोगों पर चढ़ बैठे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपूतों में एकता का आभाव था जिससे मुस्लिम शासकों को एक के पश्चात् दूसरे राजपूत राजा को पराजित करने में सफलता मिली[17]।

योग्य नेतृत्व का अभाव

अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की असफलता का एक मुख्य कारण अवसर के अनुकूल सुयोग्य नेतृत्व की कमी था। महमूद गजनवी, मुहम्मद गोरी, ऐबक, इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खिलजी से सभी उच्चकोटि के सेनानायक थे और उनमें नेतृत्व ग्रहण करने के जन्मजात गुण विद्यमान थे। उदाहरण के लिए अलाउद्दीन खिलजी के रणथम्भौर अभियान के समय उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। उसका तख्ता पलटने के लिए उसके विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह हुए फिर भी वह अविचलित रहते हुए घेराबन्दी के काम में जरा भी शिथिलता नहीं आने दी। इसमें सन्देह नहीं है कि पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर और कान्हजदे शूरवीर सेनानायक थे, परन्तु उनमें मुस्लिम सुल्तानों की तुलना में नहीं रखा जा सकता। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी विपरीत परिस्थितियों से हताश होना नहीं जानता था जो उसकी अधिकांश विजय का कारण बना[18]।

राष्ट्रीयता का आभाव

राजपूत युग में राष्ट्रीय भावनाओं के अभाव ने भारतीय राजनैतिक संगठन की प्राचीरें हिला दी थीं। उस काल में भारत को राजनैतिक विश्रृंखलन तो जर्जर बना ही रहा था, इसके साथ ही राष्ट्रीयता का अभाव भी उसे पतन की ओर उन्मुख कर रहा था। जनसाधारण में राष्ट्रीय भावनाओं का लोप हो चुका था। संगठन के अभाव में देश में विद्यमान अनेक शूरवीर एक होकर तुर्कों के विरूद्ध अपने जौहर और पराक्रम का प्रदर्शन नहीं कर पाये। यदि राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत होकर तत्कालीन उत्तरी भारत एकता के सूत्र में बंध जाता, तो तुर्क मुकाबला करने में सर्वथा असफल सिद्ध हो जाते[19]।

यद्यपि राजपूत मुसलमानों के भारत–प्रवेश के मार्ग को अवरुद्ध तो नहीं कर सके, तथापि उन्होंने युद्ध–क्षेत्र में अपने अद्वितीय रण–कौशल और बहादुरी का प्रदर्शन कर मुसलमानों को स्तम्भित जरूर कर दिया। उत्तर भारत पर तुर्कों का अधिकार प्रायः प्रधान नगरों और गढ़ों तक ही सीमित था, लेकिन राजपूतों ने छापामार–युद्धों का आश्रय लेकर मुसलमानों को वर्षों की लम्बी अवधि तक सुख की नींद नहीं सोने दिया। स्थानीय विद्रोह कभी शान्त नहीं हुए और स्वतंत्र राजपूत राज्य बराबर बने रहे, जो तुर्क सुल्तानों से बराबर लोहा लेते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि न तो तुर्कों को भारत में मनमानी करने का अवसर मिला और न ही भारतीयों का आत्मविश्वास तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना का ही विनाश हुआ। राजपूताना में सुल्तान की

विजय स्वपकालीन रही। देशप्रेम और सम्मान के लिए मर मिटने वाले राजपूतों ने कभी भी अलाउद्दीन के प्रति पतियों के सम्मुख समर्पण नही किया। यदि उनकी पूर्ण पराजय हो जाती तो वे अच्छी तरह जानते थे कि किस प्रकार अपमानकारी आक्रमण से स्वयं को और अपने परिवारों को मुक्त करना चाहिए और जैसे ही आक्रमण का ज्वार उतर जाता वे अपने प्रदेशों पर पुनः अधिकार जमा लेते थे।

इस प्रकार, भारत पर विजय प्राप्त कर लेने पर भारतीय जनता के हृदयों में तुर्क अधिकार नहीं जमा पाये। तुर्कों और दिल्ली सल्तनत के विरूद्ध लड़े गये युद्धो में राजपूत हार गये और राजपूताने के अधिकांश भू–भाग पर उनका अधिकार भी कायम हो गया, परन्तु दिल्ली के सुल्तान इस भू–भाग पर अपने प्रभुत्व को अधिक समय तक कायम न रख सके। स्वतंत्रप्रिय राजपूतों ने दिल्ली सल्तनत के प्रांतीय अधिकारियों से सम्मुख घुटने नहीं टेके। दिल्ली सल्तनत की विजयी सेनाओं की वापसी के साथ ही उठ खड़े होते और अपने क्षेत्रों पर पुनः अधिकार जमाने में जुट जाते थे। उलुग खां के जाते ही रणथम्भौर पर सल्तनत का नियन्त्रण ढीला पड़ गया और अवसर का लाभ उठाकर चौहानों ने पुनः इस पर अपना अधिकार जमा लिया। अलाउद्दीन खिलजी को अपने जीवन काल में ही खिज्रखां को चित्तौड़ से हटाना पड़ा[20]। अवसर मिलते ही अम्मीर ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। जालौर पर भी तुर्कों का शासन ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रह पाया। अजमेर और नागौर अवश्य उनके नियंत्रण में बने रहे।

इससे स्पष्ट है कि राजपूत युद्धों में हारे अवश्य परन्तु उन्होंने कभी भी पूर्ण रूप से तुर्कों की सत्ता को समर्पण नहीं किया।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 205
2. वही, पृ0 206
3. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 102
4. वही, पृ0 104
5. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 209
6. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 117
7. वही, पृ0 117
8. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 102
9. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1975, पृ0 188
10. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 207
11. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 105
12. वही, पृ0 105

13. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 209
14. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 107
15. प्रताप सिंह, मध्यकालीन भारत, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1975, पृ0 187
16. किशोरी शरण लाल, खिलजी वंश का इतिहास, आगरा, 1964, पृ0 117
17. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 102
18. वही, पृ0 106
19. डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल, राजपूतकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, आगरा, 1978, पृ0 210
20. डॉ0 कालूराम शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1987, पृ0 108

****

अष्टम् अध्याय

उपसंहार

अष्टम् अध्याय

उपसंहार

भारतीय शौर्य शिरोमणि राजपूतों ने मुस्लिम आक्रमणकारियों का वीरता पूर्वक सामना किया। किन्तु 1192 ई0 में जब गजनी के शासक मुहम्मद गोरी ने तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर दिया तो राजपूतों का पराभव प्रारम्भ हो गया। मुहम्मद गोरी ने अपनी ताकत के बल पर उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को पदाक्रान्त कर भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डाल दी। मुहम्मद गोरी ने भी अपनी भारतीय विजय को स्थाई बनाने के लिए अपने दास कुतुबुद्दीन ऐबक को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। जब तक मुहम्मद गोरी जीवित रहा, तब तक कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य किया। किन्तु जब 15 मार्च 1206 ई0 को मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो गयी तो ऐबक नियंत्रणविहीन हो गया।

मुहम्मद गोरी के कोई पुत्र नहीं था अतः उसके साम्राज्य को उसके दासों ने अधिकृत कर लिया। गजनी पर ताजुद्दीन यल्दौज ने, मुल्तान पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने अधिकार कर लिया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने तुर्क शासक के रूप में 1210 ई0 तक शासन किया। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने ताजुद्दीन यल्दौज के भारतीय प्रदेशों पर दावे को स्वीकार नहीं किया और दिल्ली सल्तनत का पृथक अस्तित्व बनाये रखा। उसकी मृत्यु के बाद आरामशाह सुल्तान बना किन्तु वह अयोग्य था। अतः इल्तुतमिश ने उसे मारकर कुतुबुद्दीन ऐबक के साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। इल्तुतमिश एक योग्य सुल्तान सिद्ध हुआ। उसने अपने 25 वर्षों के शासन काल में विद्रोही राजपूतों का दमन किया और दिल्ली सल्तनत को एक सुदृढ़ प्रशासनिक आधार देने का प्रयास किया। किन्तु गुजरात, जालौन, मालवा, चित्तौड़ आदि राजपूत राज्यों को वह दिल्ली सल्तनत में शामिल न

कर सका। 1236 ई0 में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गयी। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अयोग्य निकले। अतः सत्ता पर अधिकार करने के लिए सुल्तान और तुर्क दास अधिकारियों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष ने इल्तुतमिश के वंशजों की बलि ले ली। रूकनुद्दीन फिरोज (1236), रजिया (1236–40), मुईजुद्दीन बहराम शाह (1240–42), अलाउद्दीन मसूदशाह (1242–1246) तथा नसिरूद्दीन महमूद(1246–66) को अपने प्राण गवाने पड़े।

1266 ई0 में बलबन सत्तारूढ़ हुआ। वह एक कठोर और अनुशासन प्रिय शासक था। उसने दैवी राजत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सुलतान की प्रतिष्ठा को बढ़ाया तथा सैनिक बल पर आधारित शासन की स्थापना की। उसके समय में मंगोलों ने बार–बार भारत पर आक्रमण किया। अतः विरासत में प्राप्त दिल्ली सल्तनत (साम्राज्य) को वह विस्तृत नहीं कर पाया। मंगोलों से वह इतना भयभीत था कि अपने पड़ोसी स्वतंत्र राजपूत राजाओं के विरूद्ध सैनिक अभियान ले जाने की उसकी हिम्मत न पड़ी। 1287 ई0 में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी मुईजुद्दीन कैकुबाद (1287–90) लापरवाह, विलासी एवं निकम्मा हो गया। अतः खिलजी क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ और 12 जून 1290 ई0 को जलालुद्दीन फिरोज खिलजी तथाकथित गुलाम वंश का अंत कर खिलजी वंश की नींव डाली। 1290 से 1296 ई0 तक उसने शासन किया। यद्यपि जलालुद्दीन फिरोज खिलजी ने राजपूतों के विरूद्ध तथा रणथम्भौर के विरूद्ध सैनिक अभियान ले जाने का कार्य किया। किन्तु उसको अपने अभियान में सफलता न मिली उसने यह कहकर रणथम्भौर दुर्ग का घेरा उठा लिया कि मैं रणथम्भौर जैसे दुर्ग को मुसलमान के एक बाल के बराबर भी नहीं समझता हूँ। वास्तविकता चाहे जो भी रही हो किन्त हम इतना तो दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि

राजपूतों के विरूद्ध संघर्ष करने की क्षमता जलालुद्दीन खिलजी में नही थी।

1296 ई0 में उसके दामाद एवं भतीजे अलाउद्दीन खिलजी ने उसकी हत्या कर दी और स्वयं दिल्ली का सुल्तान बन गया। अलाउद्दीन खिलजी योग्य सेना नायक, प्रशासक एवं महत्वाकांक्षी था। जलाली पुत्रों एवं अमीरों का उसने आसानी से दमन कर दिया। स्थिति मजबूत हो जाने के बाद उसने कुछ योजनाएं बनाना प्रारम्भ किया। यदि हम जियाउद्दीन बरनी पर विश्वास करें तो वह सिकन्दर की तरह विश्व विजय करने और पैगम्बर मुहम्मद साहब की तरह नया धर्म चलाने की कल्पना का परित्याग किया। किन्तु उसके बदले में उसने राजपूत राजाओं को परास्त करने का निश्चय किया। अपने निश्चय को उसने व्यवहार स्वरूप प्रदान किया और बराबर तब तक उनसे संघर्ष करता रहा जब तक किसी भी राजपूत राजा ने उससे लड़ने की हिम्मत दिखाई। उसकी सेनाओं ने न केवल उत्तर भारत के राजपूतों को परास्त किया बल्कि दक्षिण भारत के राजपूत राजाओं को भी पदाक्रान्त कर अपनी आधीनता स्वीकार करने और नियमित कर देने को विवश किया।

वास्तव में अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति प्रमुख रूप में दो भागों में बांटी जा सकती है। प्रथम उत्तर भारत के प्रति अपनायी गयी नीति और द्वितीय दक्षिण भारत के राजपूतों के प्रति अपनायी गयी नीति। इन दोनो नीतियों में मूलभूत अन्तर था। उत्तर भारत के राजपूत राजाओं को परास्त कर अलाउद्दीन खिलजी उनके राज्यों को अपने राज्य में मिलाकर दिल्ली सल्तनत में मिला लिया। किन्तु दक्षिण भारत के राजपूतों के प्रति उसने विलयन विरोधी जैसी दूरदर्शीपूर्ण नीति अपनायी। उसने उन्हें परास्त कर मनचाहा धन प्राप्त किया और उनको अपने अधीनस्थ बनाये रखा। जबतक दिल्ली सल्तनत में सुल्तानों ने इस नीति का पालन किया

तब तक दिल्ली सल्तनत का भविष्य उज्ज्वल रहा किन्तु जब इस नीति से छेड़–छाड़ प्रारम्भ की गयी तो दिल्ली सल्तनत के संकट भी बढ़ने लगे।

अलाउद्दीन का उत्कर्ष काल जलालुद्दीन के राज्यारोहण के पश्चात् शुरू हुआ। गुलाम वंश के अंतिम सुल्तान कैकुबाद के हत्याकाण्ड में सक्रिय भाग लेकर अलाउद्दीन ने उस वंश की सम्पत्ति और खिलजी वंश के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर अलाउद्दीन खिलजी ने एक बड़े प्रान्त का प्रान्तपति बन गया। धीरे–धीरे उसकी गणना सुल्तान के श्रेष्ठ प्रान्तपतियों और सरदारों में की जाने लगी और उसका प्रभुत्व बढ़ता चला गया। उसे कड़ा के अतिरिक्त अवध का प्रान्तपति नियुक्त कर दिया गया। इस प्रकार निरन्तर विजय लिप्सा अबाध गति व अनियंत्रित रूप से बढ़ती गयी। जिसके परिणामस्वरूप उसने अपने चाचा और ससुर जलालुद्दीन की कड़ा नामक स्थान पर निर्मम हत्या कर स्वयं सुल्तान बन बैठा।

द्वितीय अध्याय में अलाउद्दीन खिलजी के समय राजपूतों की दशा का वर्णन किया गया है। राजपूत अत्यन्त गौरव युक्त थे। वे उज्जवल वंश परम्परा के निर्माता हैं। वीरता की भावना ने उन्हें कठिनाइयों के समय साहस युक्त कार्यों के लिए प्रेरित किया था। वे वीरों का आदर करना जानते थे। शत्रुओं को भी निःशस्त्र हत्या करना ठीक नहीं समझते थे, चाहे वह हार क्यों न जाय। निर्धन व्यक्तियों और स्त्रियों का सम्मान करना वे जानते थे। विदेशी आक्रमणकारियों का वे डटकर मुकाबला करते थे और अपना सर्वस्व निछावर करने को तत्पर रहते थे।

अलाउद्दीन खिलजी के समय राजपूतों की राजनीतिक स्थिति उनकी सैनिक शक्ति पर निर्भर थी। यद्यपित राजपूती समाज की यूरोपीय सामंतवाद से काफी समानता थी तथापि यह समानता केवल ऊपरी सतह तक थी। मूल रूप से दोनों में आधारभूत भिन्नता थी। राजपूतों की प्रमुख

विशेषता अपनी भूमि, परिवार और अपने मान सम्मान के साथ लगाव था। दिल्ली के तुर्क सुल्तानों को अपनी सत्ता के लिए सबसे बड़ा खतरा राजपूतों से ही रहता था। अलाउद्दीन खिलजी ने निर्णायक रूप से राजपूतों को पराजित किया और राजपूताना के अधिकांश भाग पर तुर्क शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की।

इस समय राजपूतों की सामाजिक दशा बहुत अच्छी नहीं थी। यदि कोई समाज अपनी जीवनशक्ति खो बैठता है तथा व्यापक दुर्बलताओं का शिकार हो तो किसी भी विदेशी सत्ता के लिए उस समाज पर प्रभुत्व जमा लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं होती। जब–जब तुर्कों का आक्रमण राजपूत राज्यों पर हुआ, तब–तब राजपूती समाज पारस्परिक फूट, बैमनस्य, ऊँच–नींच की भावना, छुआछूत और विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का शिकार था। राजपूतों के खान–पान, वस्त्र तथा आभूषण उच्च कोटि के होते थे। इस काल में अनेक साधनों से राजपूत मनोरंजन किया करते थे। राजपूतों में धर्म के प्रति भी बड़ी आस्था रहती थी। रणथम्भौर के शासक हमीर ने राजपूतों के धर्म का निर्वाह करने के लिए ही अलाउद्दीन खिलजी के मुस्लिम विद्रोहियों को शरण दिया था, क्योंकि मध्यकालीन भारत में राजपूतों में पारिवारिक धर्म प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए अपने बचन का पालन करने और शरणागतों को सुरक्षा का आश्वासन देने की परम्पराएं विद्यमान थीं और हम्मीर ने इन्हीं परम्पराओं का पालन किया था। यही कारण था कि जिससे उसका राज्य अलाउद्दीन खिलजी का विरोधी बन गया और वह अपना राज्य गंवा बैठा। राजपूतों में रूढ़िवादी परम्परायें भी व्याप्त थी जिनमें जौहर प्रथा प्रमुख थी। चित्तौड़ के शासक राजा रतन सिंह के ऊपर जब संकट के बादल चारो ओर छा गये और सर्वनाश के चिन्ह दिखाई देने लगे और शत्रुओं से बचने तथा दुर्ग की रक्षा की आशा न रही

तो वहाँ की स्त्रियों ने अपने सतीत्व को बचाने के लिए जौहर रचाया और अपने आपको धधकती आग में अर्पण कर दिया।

तृतीय अध्याय में अलाउद्दीन खिलजी की विजय सम्बन्धी नीति को स्पष्ट किया गया है। अलाउद्दीन खिलजी को एक के बाद एक सफलता प्राप्त होने के से वह मदान्ध हो गया था। उसके मस्तिष्क में भिन्न–भिन्न प्रकार की विजय सम्बन्धी नीतियँ पनपने लगीं। उसने ऐसी–ऐसी बातें सोचनी आरम्भ कर दी जिन पर इससे पूर्व किसी अन्य सुल्तान ने विचार न किया था। उसने एक असम्भव और कठिन विजय सम्बन्धी नीतियों पर विचार करना शुरू कर दिया। अलाउद्दीन जितना धूर्त और क्रूर था उतना ही महत्वाकांक्षी भी था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह कुछ भी करने में नहीं झिझकता था और उसकी महत्वाकांक्षाएं असीम थीं। यदि कभी ऐसा राजा हुआ जिसने अपने अन्तःकरण को पूर्णतया कुचल दिया हो तो वह अलाउद्दीन खिलजी था। वह दूसरा सिकन्दर बनना चाहता था, किन्तु उसमें महान विजेता के चरित्र की उच्चता नहीं थी। अपनी इसी इच्छा की पूर्ति के लिए उसने जलालुद्दीन को जो उसका संरक्षक, चाचा तथा ससुर था का वध किया।

अलाउद्दीन खिलजी विजय प्राप्ति के लिए साम, दाम, दण्ड तथा भेद की नीति को अपनाने में संकोच नहीं करता था। उसकी दण्ड नीति का ही असर था कि उसके शासन में लूट–पाट, चोरी आदि का नाम सुनने को नहीं मिलता था। उसकी विजय सम्बन्धी नीति का अगला पहलू विरोधी पक्ष के लोगों को अपनी ओर मिलाना था। देवगिरि के शासक रामचन्द्र देव पर विजय प्राप्त करके उसे अपनी ओर मिला लिया और अपने जीवन के अन्तिम समय तक दिल्ली सल्तनत के प्रति निष्ठावान बना रहा। वह दिल्ली सल्तनत का ऐसा शासक था जिसने इतने विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया और अनेक आन्तरिक और वाह्य संकटों के होते हुए भी प्रभावशाली

ढंग से उस पर शासन किया। अपने कार्यों के लिए वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी था, और धरती पर ईश्वर का नायब होने का दावा करता था। उसकी प्रजा का कर्तव्य उसकी आज्ञा का पालन करना और आवश्यकता पड़ने पर बिना किसी प्रतिवाद के कष्ट उठाना था। युद्ध के दौरान सैनिकों पर अनुशासन बनाये रखने में अलाउद्दीन खिलजी निपुण था। वह इस तथ्य को स्वीकार करता था कि ''राजत्व ही सेना और सेना राजत्व है।'' मध्यकालीन इतिहास में सेना को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था।

अलाउद्दीन ने सेना का केन्द्रीकरण किया। उसने इस स्थायी सेना की सीधी भर्ती की और केन्द्रीय कोषागार से सैनिकों को नकद वेतन देना प्रारम्भ किया। वह ऐसा सुल्तान था जो शत्रु को पूर्णतम विनाश करने की नीति में विश्वास करता था। अलाउद्दीन ने अपने सेनानायकों से अपने आदेशों को जिस सीमा तक कार्यान्वित कराया और अपने लिए विजयें करवाई, इसी में उसकी सेना सम्बन्धी कुशलता प्रदर्शित होती है। पराजित राज्य के प्रति किस प्रकार की कूटनीति अपनायी जाय अलाउद्दीन खिलजी के अन्दर कूट–कूट कर भरी थी। दक्षिणी राज्यों पर विजय प्राप्त करके सुल्तान ने समस्त भारत को कम से कम एक राजनीतिक सूत्र में बाँध दिया। वह पहला सुल्तान था जिसने विजय प्राप्त करने के पश्चात् यह नवीन कार्य सम्पादित किया।

उत्तर भारत के राज्यों पर दिल्ली सल्तनत का सीधा शासन स्थापित करना अलाउद्दीन खिलजी का मुख्य उद्देश्य था। जालौर के पतन के पश्चात् न केवल सम्पूर्ण राजपूताना, बल्कि सम्पूर्ण उत्तर भारत उसकी मुट्ठी में आ गया। उत्तरी भारत की विजय के साथ ही अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण विजय का रास्ता आसान हो गया। उसने दक्षिण में विजय प्राप्त करने के पश्चात् दक्षिण के राज्यों को प्रभुत्व स्वीकार कराना

और उन्हें आन्तरिक स्वतंत्रता देने की नीति पर बल दिया। दक्षिण में मिलने वाले काले धन से उसे अपने राज्य को अखिल भारतीय साम्राज्य में परिवर्तित करने में प्रेरणा मिली। अलाउद्दीन खिलजी का दक्षिण विजय का स्वरूप प्राचीन भारतीय सम्राटों की दिग्विजय के समान था। वह दक्षिण के राज्यों को जीत कर साम्राज्य में मिला लेने अथवा दक्षिण की जनता पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करने की इच्छा नहीं रखता था। किन्तु उसकी दक्षिण नीति राजनीतिक दूरदर्शिता का सीधा परिणाम थी। वह पराजित राष्ट्रों से अधिक से अधिक धन वसूल करना चाहता था।

अलाउद्दीन खिलजी की विजय सम्बन्धी नीति का अगला अंग था उसके द्वारा हिन्दू विरोधी नीति को प्रोत्साहन। जिसके अन्तर्गत उसने हिन्दुओं की धन सम्पत्ति का अपहरण किया और कठोरता के साथ उनसे जजिया की वसूली करवायी। सुल्तान स्वयं मुस्लिम राज्य में हिन्दुओं को सम्मानित पद देने के पक्ष में नहीं रहता था। वस्तुतः अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में हिन्दुओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू समाज का अवर्णनीय पतन हुआ।

चतुर्थ अध्याय में उत्तर भारत के राजपूत राज्यों से अलाउद्दीन खिलजी का क्या सम्बन्ध था इसका विवेचन किया गया है। सिंहासन पर बैठने के बाद सुल्तान के पास अनेक कठिनाइयां थीं। अनेक जलाली सरदार अलाउद्दीन खिलजी से असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनकी षड़्यन्त्रकारी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगाया गया था। अतएव वे कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। जलालुद्दीन का बड़ा पुत्र अर्कली खाँ पंजाब, मुल्तान और सिन्ध का स्वतन्त्र स्वामी था एवं उसका भाई एवं अपदस्थ सुल्तान रुकुनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ तथा अन्य वफादार और योग्य जलाली

सरदार उसकी शरण में थे। वे सभी मिलकर अलाउद्दीन खिलजी के लिए कभी भी संकट खड़ा कर सकते थे।

अधीनस्थ प्रदेशों में से सम्पूर्ण दोआब और अवध में अलाउद्दीन की स्थिति दुर्बल थी और अधीनस्थ राजा एवं प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर थे। उत्तर पश्चिमी सीमा पर खोक्खर जाति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाये थी और मंगोल भारत में प्रवेश पाने के लिए निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे दूरस्थ प्रदेशों में दिल्ली सल्तनत का प्रभाव नगण्य था और प्रायः अर्द्ध स्वतन्त्र हिन्दू अथवा मुसलमान शासक वहाँ शासन कर रहे थे। राजपूतों के उत्तर के राज्य में राजस्थान में प्रायः सभी राज्य स्वतंत्र थे और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे राज्य दिल्ली सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। बुन्देलखण्ड और मालवा में भी राजपूतों की शक्ति दृढ़ थी। इसके अतिरिक्त शासन को व्यवस्थिति करना तथा सल्तनत के प्रति सम्मान और भय उत्पन्न करना भी अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था। उत्तर भारत के राजपूत राज्य पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय का महत्वपूर्ण स्थान है। अलाउद्दीन ने उत्तर भारत के राजपूत राज्य सिन्ध और मुल्तान पर विजय प्राप्त की। मुल्तान के अभियान के पश्चात् वह गुजरात के सुन्दर व समृद्धि राज्य पर आकर्षित हुआ। उसने उलुग खाँ और नुसरत खाँ के नेतृत्व में गुजरात पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। गुजरात को पूर्णतः लूटने और नष्ट करने के पश्चात् वहाँ एक सेना भेजकर विजयी सेना नायक दिल्ली की ओर लौटे। राजा कर्ण देवगिरि की ओर भाग गया साथ में अपनी पुत्री देवलरानी को भी साथ ले गया। अचानक हुए हमले से वह अपने रनिवास की स्त्रियां और राजकोष को अपने साथ न ले जा सका। उसकी मुख्य रानी कमला देवी शत्रु के हाथ में पड़ गयी। जिसे शत्रुओं ने पकड़कर दिल्ली भेज दिया और सुल्तान ने उसके साथ शादी कर ली।

राजपूतों के राज्य रणथम्भौर पर अगला आक्रमण किया गया। रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ़ था। सुल्तान जलालुद्दीन उसे विजय करने में असफल रहा था और यहां के शासक पृथ्वीराज चौहान के वंशज राणा हम्मीरदेव ने अपने राज्य और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता पायी थी। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी दूसरी ही धातु का बना था। उसने सेना भेजकर इस राज्य पर विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार उसने उत्तर भारत के अन्य राजपूत राज्य जैसे चित्तौड, मालवा, जालौर आदि पर भी विजय प्राप्त कर ली।

दक्षिण भारत के राजपूत राज्य और अलाउद्दीन खिलजी के सम्बन्धों का वर्णन पंचम् अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। उत्तर भारत को विजित करने के बाद अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण भारत को विजित करने की योजना बनायी। अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण भारत का अभियान दो बार किया, अपने शासन के प्रारम्भ में कड़ा, देवगिरि, विदिशा पर आक्रमण किया था, तत्पश्चात् उत्तर भारत के राज्यों के साथ शत्रुता चली, पुनः अलाउद्दीन दक्षिण भारत पर विजय पताका फहराई। वस्तुतः दक्षिण भारत की ओर अभियान करना और सफलता प्राप्त करना एक कठिन कार्य था। दक्षिण भारत की प्राकृतिक स्थिति विषम थी और इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति मुसलमान शासकों के विजय अभियान में बाधक थी किन्तु अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण अभियान में सफलता प्राप्त कर अपना नाम इतिहास की अग्रिम पंक्ति में अंकित करा दिया।

दक्षिण राज्यों के राजपूत राजा रामचन्द्र देव के ऊपर उसने पहला आक्रमण किया, जिसकी राजधानी देवगिरि थी। पहले ही देवगिरि के सफल सैनिक अभियान के द्वारा अलाउद्दीन खिलजी यहां की विपुल धन सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य से पूर्णतः परिचित हो चुका था। रामचन्द्र ने पहले ही दिल्ली की सेना का सामना किया किन्तु विषम परिस्थिति के कारण उसने बाद में

दिल्ली के सुल्तान की अधीनता स्वीकार कर ली और उसका मित्र बन गया। देवगिरि के राजा के घुटने टेकने के पश्चात् होयसाल, तेलंगाना तथा पाण्ड राज्य के राजपूतों ने भी थोड़े संघर्ष करने के पश्चात् अलाउद्दीन खिलजी की सेना के सामने घुटने टेक दिये और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

षष्ठ अध्याय में अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति की सफलता और असफलता का विवेचन किया गया है। अलाउद्दीन खिलजी के सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि वह स्वतंत्र राज्यों पर आधिपत्य कैसे स्थापित करे। सल्तनत काल की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि किसी नवीन वंश के उदय के साथ ही विजय कार्य एक बार फिर दोहराना होता था। अलाउद्दीन खिलजी के राज्यारोहण के समय अधिकांश उत्तर भारत और पूरा दक्षिण भारत मुस्लिम आधिपत्य की परिधि के बाहर था। ऐसी स्थिति में समग्र हिन्दुस्तान की विजय सुल्तान की सबसे बड़ी समस्या और सर्वोच्च महत्वाकांक्षा थी।

मुल्तान और सिन्ध पर जलालुद्दीन फिरोज खिलजी का पुत्र अर्कली खाँ स्वतंत्र रूप से राज्य कर रहा था। गुजरात पर बघेल राजपूतों का राज्य था। राजपूताना के विभिन्न राज्य आपस में जूझ रहे थे और दिल्ली सल्तनत से स्वतंत्र थे। वास्तव में राजपूताना को आधिपत्य में लाना अलाउद्दीन खिलजी की सबसे बड़ी सफलता थी। क्योंकि कोई भी मुस्लिम शासक अलाउद्दीन खिलजी से पहले राजपूत राज्यों में किसी को भी पूर्णतः पराजित करने और अधीन करने में सफल नहीं हुआ। चित्तौड़ और रणथम्भौर जैसे राज्यों का अस्तित्व सल्तनत की शक्ति को खुली चुनौती था। यादव प्रदेश को पुनः जीतने के बाद मलिक काफूर ने तेलंगाना तथा होयसल राज्यों के आस–पास के अन्य नगरों को रौंद डाला और दक्षिण के

लोगों में इतना आतंक उत्पन्न कर दिया कि दिल्ली सल्तनत के प्रतिरोध का किसी को साहस नही हुआ।

इसके अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा में वृद्धि करना, राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना, राजपूतों से सहयोग प्राप्त करना आदि अलाउद्दीन खिलजी की सफलता के महत्वपूर्ण कारक थे। प्रत्येक व्यक्ति या शासक के उसके उज्ज्वल पक्ष के साथ–साथ उसके कमजोर या असफलता के पक्ष भी होते हैं। अलाउद्दीन खिलजी भी इससे अछूता नहीं था। अलाउद्दीन खिलजी सुल्तान पद की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का महान पोषक था। उसकी इच्छा राज्य की कानून थी। वह अपने अधिकारों पर किसी भी तरह का नियंत्रण मानने को तैयार नहीं था। राजपूतों के ऊपर उसको नियंत्रण रखने में पूरी तरह से सफलता नहीं मिल पायी थी। जैसे ही वह विजय प्राप्त करके दिल्ली पहुंचता था राजपूत लोग पुनः विद्रोह करना प्रारम्भ कर देते थे। देवगिरि में विद्रोह की शुरुआत इसका प्रमुख उदाहरण है। इसके बाद वारंगल में भी विद्रोह की चिनगारी फूट पड़ी। निष्कर्षतः मैं यह कह सकती हूँ कि कुछ असफलताओं को यदि छोड़ दिया जाय तो अलाउद्दीन खिलजी को ज्यादा से ज्यादा राजपूत राज्यों पर सफलता ही हाथ लगी थी। उसने अधिकांश राजपूत राज्यों को पूरी तरह से दिल्ली सल्तनत में मिला लिया था।

सप्तम् अध्याय में अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की पराजय के कारणों का वर्णन किया गया है। राजपूतों की पराजय का मूलभूत कारण यह था कि उस समय देश में राजनीतिक एकता की कमी थी। राजपूतों के छोटे–छोटे कई राज्य थे। ये परस्पर संघर्ष किया करते थे। प्रत्येक महत्वाकांक्षी शासक अपने पड़ोसियों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त करने की चेष्टा किया करते थे। राजपूतों की पराजय के लिए उनकी सेना तथा सैनिक संगठन भी उत्तरदायी थे। रणक्षेत्र में अद्भुत

साहस और रण–कौशल का परिचय देने वाले राजपूतों का मुसलमानों द्वारा पराजित हो जाना आश्चर्यजनक बात थी। राजपूत संख्या और व्यक्तिगत शौर्य में अपने प्रतिद्वन्दी तुर्कों से कम नही थे, फिर भी अपनी मातृभूमि की रक्षा करने में तुर्कों के आक्रमणों के सम्मुख निष्फल हो गये।

अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में विभिन्न–विभिन्न राजपूत राजाओं को एक लम्बे समय तक तुर्कों द्वारा स्थापित दिल्ली सल्तनत से संघर्ष करना पड़ा। अलाउद्दीन खिलजी तथा भारत के उत्तर तथा दक्षिणी राज्यों के राजपूतों के सम्बन्ध हमेशा तनाव तथा शत्रुतापूर्ण रहे। कई बार राजपूत तुर्कों के बढ़ते हुए प्रभाव को नियंत्रित करने में भी सफल रहे। परन्तु वे दिल्ली सल्तनत के राजनीतिक प्रभाव में होने वाले उतार चढ़ाव का समुचित लाभ न उठा सके। जिसका परिणाम यह निकला कि उन्हें एक–एक करके अलाउद्दीन खिलजी के सामने नतमस्तक होना पड़ा और उनकी स्वतंत्रता का अंत हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को रणथम्भौर, चित्तौड़ और जालौर को जीतने के लिए कठोर परिश्रम और संघर्ष करना पड़ा। रणथम्भौर अभियान के समय हम्मीर के सेनानायक तथा मंत्री रणमल और रतिपाल ने व्यक्तिगत उन्नति एवं स्वार्थ के खातिर अपने राजा तथा राज्य के साथ विश्वासघात करके सुल्तान का साथ दिया। चित्तौड़ अभियान के समय भी देवपाल ने विश्वासघात किया और जालौर अभियान के समय दहिया राजपूत सरदार बीका ने सुल्तान की सेना को दुर्ग का असुरक्षित भाग तथा रास्ता बताकर अपने स्वामी के साथ विश्वासघात किया।

यह हमारे राष्ट्रीय चरित्र का सबसे दुःखद पहलू था और इसके लिए हजारों राजपूत नर नारियों को मंहगी कीमत चुकानी पड़ी। अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध राजपूत की पराजय में तुर्कों की श्रेष्ठतम रणनीति और पैंतरेबाजी, राजपूतों की हस्ति सेना की दुर्बलता, राजपूत राजाओं के किले,

राजपूतों के पास स्थायी सेना का आभाव, राजपूतों में एकता की कमी इत्यादि अनेक महत्पूर्ण कारण थे जिससे राजपूतों को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। अस्तु शोधार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि राजपूतों के विरुद्ध अलाउद्दीन खिलजी को जो सफलता मिली वैसी सफलता उसके पूर्ववर्ती किसी भी मुल्तान को नहीं मिली थी। उसने बड़ी निडरतापूर्वक राजपूतों पर आक्रमण किया और उन्हें अधीनता स्वीकार करने या जौहर करने को विवश किया। उसके शासनकाल में ही दिल्ली सल्तनत के अजेय विजय अभियानों का सिलसिला प्रारम्भ होकर पूर्णत्व को प्राप्त होता है। उसकी दूरदर्शी राजपूत नीति ने समस्त भारत में उसे सफलता दिलायी।

अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति की तुलना यदि हम गुप्तकाल के शासकों जैसे समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त से करते हैं तो भी अलाउद्दीन खिलजी का पलड़ा भारी दिखायी देता है गुप्त काल के शासकों का उद्देश्य तो पड़ोसी राज्यों को पराजित कर उन पर विजय प्राप्त करना था किन्तु अलाउद्दीन में उनसे अधिक मात्रा में धन की प्राप्ति करना, अपने साम्राज्य में पूर्ण रूप से मिलाकर उनसे कर प्राप्ति के अलावा उनका सहयोग भी प्राप्त कर लेने की क्षमता थी।

अलाउद्दीन खिलजी ने चौदहवीं शताब्दी में जिस राजपूत नीति का प्रयोग किया था उसी नीति को आने वाले समय में मुगल सम्राट अकबर ने भी अपनाया। उसने अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति, जो राजपूतों पर विजय प्राप्त करके उन्हें मित्र बनाने के सिद्धान्त को बढ़ावा देती थी को अपनाकर अपना नाम इतिहास के राष्ट्रीय शासकों में अंकित करा गया। अलाउद्दीन खिलजी पर अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी चलायी है किन्तु अलाउद्दीन खिलजी की राजपूत नीति पर विशेष रूप से न तो किसी विद्वान और शोधार्थी ने स्वतंत्र रूप से विचार किया और कुछ कार्य हुए भी

हैं तो वे नोटिस मात्र लगते हैं। इसी कमी को पूर्ण करने का प्रयास मैं प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के माध्यम से कर रही हूँ।

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दभ–ग्रन्थ सूची

हिन्दी ग्रन्थ

- अमीर खुसरो : हश्त–बहिश्त
- अमीर खुसरो : किरानुस्सादेन
- अमीर खुसरो : खजायनुल फुतूह
- अमीर खुसरो : देवलरानी खिज्र खाँ
- अमीर खुसरो : मिफ्ता–उल–फुतूह
- अब्दुल कादिर बदाँयूनी : मुन्तखाब–उत–तवारीख
- अबुल फजल : अकबरनामा
- आइनुलमुल्क : इन्शा–ए–माहक
- इब्नबतूता : किताब–उल–रेहला
- इलियट एवं डाउसन : भारत का इतिहास
- इसामी : फुतूहुस्सलातीन
- ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का संक्षिप्त इतिहास
- आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
- अशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : मध्यकालीन भारत
- एस0एल0 नागोरी : दिल्ली सल्तनत
- एल0पी0 शर्मा : मध्यकालीन भारत
- कर्नल गौतम : भारतीय सेना और युद्ध कला

- के0एस0 लाल : खिलजी वंश का इतिहास
- कालू राम शर्मा : राजस्थान का इतिहास
- गुलाम हुसैन सलीम : रियाज–उल–सलातीन
- जियाउद्दीन बरनी : फतवा–ए–जहाँदारी
- डॉ0 के0एल0 खुराना : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
- डॉ0 मनराल, डॉ0 मित्तल : राजपूत कालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास
- डॉ0 निर्मला गुप्ता : दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति
- डॉ0 नीना शुक्ला : दिल्ली सल्तनत
- डॉ0 अवध बिहारी पाण्डेय : पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास
- डॉ0 के0एल0 खुराना : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
- निजामुद्दीन अहमद : तबकाते अकबरी
- फरिश्ता : तारीख–ए–फरिश्ता
- मलिक मुहम्मद जायसी : पदमावत
- मुहम्मद अहमद : तारीख–ए–अल्फी
- मुहम्मद बिहामद खानी : तारीख–ए–मुहम्मदी
- मजूमदार, राय चौधरी एवं दत्त : मध्यकालीन भारत
- मिनहाज : तबकात–ए–नासिरी
- प्रताप सिंह : मध्यकालीन भारत
- याहिया बिन अहमद : तारीख–ए–मुबारकशाही
- रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय

- लईक अहमद : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
- लेनपूल : मध्यकालीन भारत
- लेनपूल : औरंगजेब
- वी0एस0 भार्गव : राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण
- विपिन बिहारी सिन्हा : भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
- विपिन बिहारी सिन्हा : मध्यकालीन भारत
- वी0डी0 महाजन : मध्यकालीन भारत
- विनोद चन्द्र पाण्डेय : भारतीय संस्कृति
- सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति का विकास
- सैय्यद अतहर अब्बास रिज़वी : आदि तुर्क कालीन भारत
- सैय्यद अतहर अब्बास रिज़वी : खिलजी कालीन भारत
- शर्मा, एस0 आर0 : भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास
- शरण, परमात्मा : प्राचीन व मध्यकालीन भारत
- ळसन निजामी : ताज–उल–मासिर
- हरिश्चन्द्र वर्मा (सम्पादक) : मध्यकालीन भारत
- हबीब एवं निजामी : दिल्ली सुल्तनत
- हुसैन, युसुफ : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
- हाजी–उद–दवीर : जफरनामा

अंग्रेजी ग्रन्थ

- आई0एच0 सिद्दीकी : दि नोबिलिटी अंडर दि खिलजी

सुल्तान्स

- अशरफ : लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ द पीपल ऑफ हिन्दुस्तान
- आर0एस0 त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज
- आर0पी0 त्रिपाठी : सम आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया
- ईलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स
- एलफिन्सटन : हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
- एस0एम0 जाफर : मेडिवल इण्डिया अण्डर मुस्लिम रूल
- ए0वी0एम0 हबीबुल्लाह : फाउण्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया
- कर्नल जेम्स टाड : एनाल्स एण्ड एन्टीकिटीज ऑफ राजस्थान
- के0एम0 पणिक्कर : ए सर्वे ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
- के0एम0 पणिक्कर : स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री
- के0ए0 निजामी : स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन कल्चर
- कुरैशी : एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ डेलही
- के0एन0 शास्त्री : हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया
- जी0एच0 ओझा : हिस्ट्री ऑफ राजपूताना

➢ जे0एफ0 फ्लीट	:	डायनेस्टीज ऑफ दी केनारीज डिस्ट्रिक्ट
➢ डॉ0 के0एस0 लाल श्रीवास्तव	:	पोलिटिकल कन्डीशन ऑफ दि हिन्दूज अण्डर दि खिलजीज
➢ तारा चन्द्र	:	इन्फ्ल्यून्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर
➢ मुहम्मद हबीब	:	कम्पेन्स आफ अलाउद्दीन खिलजी
➢ मुहम्मद वाहिद मिर्जा	:	लाइफ एण्ड टाइम्स आफ अमीर खुसरो
➢ मजूमदार, आर0सी0	:	एडवान्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
➢ वी0ए0 स्मिथ	:	अकबर दि ग्रेट मुगल
➢ भण्डारकर	:	अर्ली हिस्ट्री ऑफ दि डेक्कन
➢ सी0वी0 वैद्य	:	डाउन फाल आफ हिन्दू इण्डिया
➢ सर डब्लू हेग	:	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया